रसज्ञ-मर्म्मज्ञ

दिवङ्गत आचार्य्य पं० केशवप्रसाद मिश्र

(काशी)

की

स्मृति

को

प्राक्कथन

'आधान' का अभिप्राय है—स्थापन। मेरी सभी पुस्तकों में एक रचनात्मक दृष्टिकोण है। साहित्य को मैं जीवन से अलग करके नही देखता। जिस मूलभूत आधार पर जीवन का निर्म्माण होता है, उसी आधार पर साहित्य का भी। छायावाद-युग में जो प्राकृतिक दर्शन काव्य का भावाधार था, गान्धीवाद में वही प्राकृतिक दर्शन जीवन का प्राणाधार बना। इस प्राकृतिक दर्शन को ही रचनात्मक दृष्टि मे मैं ग्रामीण अर्थशास्त्र कहता हूँ।

प्रगतिवाद (मार्क्सवाद) साहित्य में ऐतिहासिक दर्शन होकर आ गया, किन्तु गान्धीवाद साहित्य में प्राकृतिक दर्शन बन कर नही आया। मैंने उसे इसी मौलिक रूप में उपस्थित किया है।

अब तक मेरी कृतियो के दो अध्याय बन चुके है। पहिला अध्याय 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' से लेकर 'युग और साहित्य' तक है। आरम्भ में छायावाद की जिस भाव-चेतना को लेकर मैं चला था, उसके लिए कोई व्यावहारिक आधार नही पा सका था। छायावाद को तो मैंने अपनी अनुभूति मे ग्रहण कर लिया था, किन्तु उसके अनुरूप व्यावहारिक आधार न मिलने के कारण मुझमें एक असन्तोष व्याप गया। वही असन्तोष 'युग और साहित्य' में समाजवादी स्वर में व्यक्त हुआ। कुछ प्रकृतिस्थ होने पर जब मुझे एकान्त मनन-चिन्तन का अवसर मिला तब समुचित व्यावहारिक आधार गान्धीवाद में मिल गया, फलतः छायावाद का प्राकृतिक दर्शन ग्रामीण दर्शन में परिणत हो गया। यही से मेरी कृतियों का दूसरा अध्याय बनता है। 'सामयिकी', 'पथचिह्न', 'धरातल' इत्यादि पुस्तको से लेकर इस 'आधान' तक मेरे प्रयास का दूसरा अध्याय चल रहा है।

आज विश्व रूसी उपग्रह की तरह वैज्ञानिक युग में भ्रमण कर रहा है। प्राचीन आदर्श युगातीत होता जा रहा है। किन्तु, नेहरू जी के शब्दो में—

"वैज्ञानिक प्रगति और कृत्रिम चाँद का समस्याओ के हल के नैतिक तरीको पर कोई असर नही पड सकता। वैज्ञानिक प्रगतियाँ अच्छी चीजो को बुरी और बुरी चीजो को अच्छी नही बना सकती।'

नैतिकता या मानवीय चेतना के किसी भी मर्म्मोद्रेक के लिए प्राचीन आदर्श अथवा गान्धी-दर्शन की आवश्यकता बनी रहेगी।

यह पुस्तक बडी असुविधाजनक परिस्थितियो में लिखी गयी है। सार्वजनिक परिस्थितियाँ तो सबके सामने स्पष्ट हैं, किन्तु मेरी व्यक्तिगत परिस्थितियाँ अकथनीय हैं। सन्' ३९ में ('सञ्चारिणी' के प्रकाशन-काल) में जीवन की ज्योतिशिखा वहिन कल्पवती देवी के गोलोकवास से मै इस ससार में बिलकुल अकेला पड गया था। तब से अब तक माया-ममता-शून्य वातावरण में उसी की स्मृति सँजो कर साहित्य-रचना करता आ रहा हूँ। यदि जनसाधारण की तरह मेरी समस्या भी केवल आर्थिक होती तो मैं अब भी इसी तरह रचना-कार्य्य करता रहता, किन्तु मेरी सबसे बडी समस्या सास्कृतिक है। सस्कृति को समाज मे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ, किन्तु कही भी शुचिता और रुचिरता नही मिलती। मैं बहुत इकल-विकल हो गया हूँ। केवल लेखनी ही मेरी सङ्गिनी है। यदि वह आगे भी साथ दे सकी तो पाठको के सम्मुख फिर कभी उपस्थित होऊँगा।

सम्प्रति विदा।

लोलार्क-कुण्ड,
वाराणसी
[illegible]

शान्तिप्रिय द्विवेदी

अनुक्रम

आधान

काव्य में भक्ति-भावना

मनुष्य ने जब अपनी अपूर्णता, क्षणभङ्गुरता एवं सीमाबद्धता का अनुभव कर आदर्श के रूप में किसी निर्विकार और असीम सत्ता का आभास पाया तब उसने ईश्वर की स्थापना की। सांसारिक सम्बन्धों और आन्तरिक प्रज्ञा में ईश्वर ही सर्वोच्च और सर्वस्व हो गया। उसने कहा—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव॥

इसी जीवन-सर्वस्व ईश्वर के प्रति प्रणति, श्रद्धा, विश्वास और तादात्म्य ही भक्ति है। जिसे ईश्वर का बोध हो जाता है वह बोल उठता है—'अविगति गति कछु कहि न परै।' उसकी स्थिति गूँगे के गुड़-जैसी हो जाती है। ऐसी स्थिति में भक्ति की अभिव्यक्ति मूक रहकर ही की जा सकती है। किन्तु मनुष्य जैसे अपने कार्यकलापों में मौन ही नहीं रह सकता, वैसे ही अपनी भक्ति में भी चिरमूक नहीं रह सकता। उसकी मूकता की समाधि टूट जाती है। वह मयूरों की तरह नाचने लगता है, थिरकने लगता है। अपने-आप नाच कर गाकर ही उसे सन्तोष नहीं होता,

वह चाहता है, उसके उल्लास को लय और ताल भी मिले, तभी तो मीरा अपने पगो में नूपुर बाँध कर नाची थी।

भक्ति ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए नृत्य और सङ्गीत के अतिरिक्त, काव्य की भी सहायता ली। नृत्य, गीत और वाद्य के सहयोग से भक्ति की भावना लहरीली हो गयी किन्तु उसे गहराई और सुस्थिरता काव्य से ही मिली। काव्य में भक्ति की वे नीरव भावनाएँ भी अभिव्यक्त हुई जो समाधि में मूक थी।

हमारे देश में भक्ति की दो काव्य-धाराएँ प्रवाहित हुई है। एक धारा को हम निर्गुण-काव्य कहते है, दूसरी धारा को सगुण-काव्य। सुव्यवस्थित रूप में ये दोनो धाराएँ हिन्दी में ही देखी जा सकती है, विश्व के किसी अन्य साहित्य में नही, सस्कृत में भी नही।

निर्गुण-काव्य ज्ञान-प्रधान है, सगुण-काव्य भाव-प्रधान। एक में ईश्वर अन्तरात्मा की तरह निराकार है, दूसरे में सृष्टि की तरह साकार। गोस्वामी तुलसीदास जी ने दोनो का अन्तर इन शब्दो में स्पष्ट किया है—

अगुन - सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
एक दारुगत देखिय एकू।
पावक - सम जुग ब्रह्मविवेकू॥

निर्गुण और सगुण दोनो ब्रह्म के ही वहिरन्तर स्वरूप है। वह पारब्रह्म परमज्योति उस अग्नि के समान है जो कही तो लकडी

के भीतर ही व्याप्त रहती है और कहीं बाहर भी दिखलायी पड़ती है।

निर्गुण-काव्य संसार को, इस बाह्य जगत को निःसार समझ कर छोड़ देता है। कबीर ने कहा है—

रहना नहिं देश बिराना है।

यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े गल जाना है।

उन्हें यह संसार माया का मिथ्या आकर्षण जान पड़ता था—

माया महा ठगिनि हम जानी।

निरगुन फाँस लिये कर डोलैं बोलैं मधुरी बानी॥

किन्तु सगुण-काव्य ने संसार को निःसार और माया का मिथ्या प्रसार समझ कर इसका मोह छोड़ नहीं दिया। उसने आध्यात्मिक आत्म-हत्या नहीं की, बल्कि जीवित रह कर ही जीवन्मुक्त होने का प्रयत्न किया। इस निःसार संसार से अमृत को, माया से चैतन्य को, नश्वर से ईश्वर को पाने के लिए उसकी साधना उसी तरह अग्रसर हुई, जिस तरह शरीर में स्वास्थ्य साधने के लिए।

निर्गुण-काव्य मृत्यु को लेकर चलता है इसीलिए संसार को शून्य दृष्टि से देखता है। सगुण-काव्य जीवन को लेकर चलता है, इसीलिए सृष्टि को स्नेह की दृष्टि से देखता है, संसार को प्यार करता है।

निराकार ईश्वर की तरह सूक्ष्म अन्तर्जगत में ही निर्गुण-काव्य आत्मचिन्तन करता है। उसकी अनुभूतियाँ अतीन्द्रिय हैं। कबीर दास कहते हैं—

रस गगन-गुफा में अजर झरै।

बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै ॥

यह गगन-गुफा मनुष्य की अन्तरात्मा है। रस ईश्वर का चरणामृत है। उसकी आराधना उस नीरव-सङ्गीत से होती है जो अवाद्य अथवा विना वाजे की झनकार है। इसे ही अनहद नाद कहते हैं।

नानक भी कवीर की तरह ही अतीन्द्रिय अनुभूतियो को लेकर चलते हैं। वे ईश्वर के अन्त साक्षात् के लिए मनुष्य को अन्तर्जगत की ओर प्रेरित करते हैं। कहते हैं—

काहे रे वन-वन खोजन जाई।

सरव निवासी सदा अलेपा तोही माँहि समाई ॥

इन निर्गुण सन्तो की दृष्टि में ईश्वर को वाहर खोजना वैसा ही है जैसा मृग का घास में कस्तूरी की गन्ध खोजना। आत्मवोध जगाने के लिए नानक कहते हैं—

'विन आपा चीन्हे मिटै न भ्रम की काई।'

सगुण कवियो ने इस आत्मवोध की अवहेलना नही की। उनका भी केन्द्रविन्दु अन्तर्य्यामी परमात्मा ही है। वे भी मनुष्य को उसी में आत्मस्थ होने के लिए प्रेरित करते हैं। सूरदास कहते हैं—

चकई री, चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग।

मीरा भी कहती है—

मन रे परस हरि के चरण

सुभग सुन्दर कमल-कोमल, त्रिविध ज्वाला-हरण

ईश्वर के सान्निध्य के लिए सगुण कवि सांसारिक सम्बन्धों को भी छोड़ देना चाहता है। तुलसीदास ने मीरा को लिखा था—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छांडिये कोटि बैरी-सम जद्यपि परम सनेही॥

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अञ्जन कहा आँखि जेहि फूटै बहु तक कहौं कहाँ लौं॥

इस तरह निर्गुण और सगुण दोनों ही धाराओं का केंद्रबिन्दु ईश्वर ही है। किन्तु निर्गुण कवियों की तरह सगुण कवियों ने सभी सांसारिक सम्बन्धों को नहीं छोड़ दिया, उन सांसारिक सम्बन्धों को बनाये रखा जिनसे वही सात्त्विक शान्ति मिलती है जो ईश्वर की भक्ति से मिलती है। उनका निषेध तामसिक प्रवृत्तियों के प्रति था, आस्तिक समाज के प्रति नहीं।

निर्गुण-काव्य व्यक्तिगत मोक्ष को लेकर चलता है, सगुण काव्य सार्वजनिक सौहार्द को लेकर चलता है, वैसे ही जैसे भरत राम से मिलने के लिए समाज को लेकर गये थे। यह क्यों?—सभी तो ईश्वर के अंश हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

आकर चारि लाख चौरासी।
जाति जीव नभ-जल-थल बासी॥
सीय-राम-मय सब जग जानी।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

ईश्वर केवल मनुष्य में ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि में समाया हुआ

है, तभी तो राम ने वनवास में मानवेतर प्राणियो को भी अपना साथी बना लिया था।

निष्कर्ष यह कि निर्गुण-काव्य आत्मसग्रही है, सगुण-काव्य लोकसग्रही है।

आध्यात्मिक या भौतिक, किसी भी रूप में परमात्मा व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नही है, अपने विश्वव्याप्त रूप में वह परमार्थ के लिए है।

निर्गुण का दृष्टिकोण नकारात्मक है। वह निष्क्रिय है। सगुण का दृष्टिकोण रचनात्मक है। वह सक्रिय है, कर्म्म को महत्त्व देता है। तुलसीदास जी ने कहा है—

कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥

गीता का अनासक्त कर्म्मयोग अथवा निष्काम-कर्म्म सगुण-काव्य का भी लक्ष्य है। इसी के द्वारा भक्त एक ओर आत्मस्थ अथवा तटस्थ रहता है, दूसरी ओर कर्म्मक्षेत्र में प्रवृत्त होता है। निर्लिप्त लिप्तता ही उसके जीवन की विशेपता है।

अपने रचनात्मक अथवा क्रियात्मक दृष्टिकोण के कारण सगुण काव्य गार्हस्थिक, पारिवारिक एव सामाजिक है। उसकी रचनात्मक योजना में मनोवैज्ञानिक क्रमवद्धता एव तारतम्यता है। उसमें सभी अवस्थाओं, सभी वर्णों और सभी आश्रमो के व्यक्तित्त्व और कर्तृत्त्व का समावेश है। उसका सर्वाङ्गीण जीवन-दर्शन गोस्वामी जी के भक्तिकाव्य रामायण में देखा जा सकता है।

अपने गार्हस्थिक, पारिवारिक एव सामाजिक रूप में सगुण-काव्य रागात्मक है। व्यक्ति के साथ समाज की तरह जीव के साथ उसका जीवित शरीर ही राग का कारण है। राग से ही नाम-रूप-रस-गन्ध का प्रादुर्भाव और अनुभव होता है। जहाँ राग है, वही भावना, कल्पना और कला है। एक शब्द मे राग ही काव्य का मूलतत्त्व है। भक्ति की सार्थकता यह है कि वह राग को परिष्कृत अथवा सुसस्कृत कर देती है, उसे विद्वेष नही बनने देती।

सगुण-काव्य तो अनुरागी है ही, किन्तु क्या निर्गुण-काव्य सर्वथा राग-शून्य है? ऐसा तो नही जान पडता। निर्गुण-काव्य के अन्य-तम प्रतिनिधि कबीरदास को भी अपनी अतीन्द्रिय अनुभूतियो का बोध कराने के लिए रागात्मक रूपक का आश्रय लेना पड़ा है, यथा—

आई गवनवाँ की सारी, उमिरि अवही मोरि बारी
साज समाज पिया लै आये और कहँरिया चारी
बम्हना बेदरदी अँचरा पकरि कै जोरत गँठिया हमारी
सखी सब पारत गारी।

ऐसे ही अन्यान्य रागात्मक रूपको में कबीर भक्ति को भावा-त्मक अथवा काव्यात्मक बना सके हैं। जो सम्बन्ध वे आत्मा और परमात्मा में स्थापित करते हैं वही सम्बन्ध संसार में स्थापित कर सगुण कवि ईश्वर को गार्हस्थिक और सामाजिक रूप दे देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दो में—

व्यापक ब्रह्म निरञ्जन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस कौशल्या के गोद॥

कवीर ईश्वर को रूप नही दे सके (निर्गुण का भला क्या रूप हो सकता है), किन्तु उसे प्रत्यक्ष करने के लिए उन्हें भी नाम का सहारा लेना पडा, ईश्वर को गोविन्द और राजाराम कहना पडा। नाम से ही रूप भी सामने आ जाता है। गोस्वामी जी के शब्दो में—

देखिअहि रूप नाम आधीना।
रूपज्ञान नहि नामविहीना॥

जो परोक्ष तक नही पहुँच सकते उन प्रत्यक्षदर्शियो के परितोप के लिए गोस्वामी जी ने नाम का ही प्रचार अधिक किया।

चाहे नाम हो, चाहे रूप हो, चाहे निर्गुण हो, जहाँ ईश्वर की स्थापना है वहाँ उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के लिए काव्यत्त्व भी अनिवार्य्य है, क्योकि ईश्वर स्वय एक भावना है। गोस्वामी जी ने कहा है—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभुमूरत देखी तिन तैसी॥

भावना के अनुसार ही भक्ति नवधा हो गयी है—

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥

ज्ञानप्रधान होते हुए निर्गुण-काव्य जैसे भावात्मक भी है, वीतराग होते हुए जैसे रागात्मक भी है, वैसे ही शुष्क होते हुए रसात्मक भी है। कवीर ने शान्त रस के द्वारा परमात्मा से और करुणा रस के द्वारा ससार से अपना सम्बन्ध स्थापित किया है। उन्होने विलासियो से कहा है—

मुखड़ा का देखत दरपन में
तोरे दया धरम नहिं मन में

यदि निर्गुण में से ईश्वर को निकाल दें तो वही बौद्ध मत हो जायगा। दोनो में शान्त और करुण रस की ही अनुभूति है।

सगुण-काव्य में जीवन के सभी रस हैं। किन्तु जैसे निर्गुण में शान्त और करुण रस की प्रधानता है, वैसे ही सगुण मे शृङ्गार और वात्सल्य का प्राधान्य है। मीरा कहती है—

मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोरमुकुट मेरो पति सोई॥

सूरदास कहते हैं—

जसोदा हरि पालने झुलावै
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोई कछु गावै
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुआवै

काशी,
२३।८।५७

रवीन्द्रनाथ का रूपक-रहस्य

रवीन्द्रनाथ कवि होने के कारण भावुकता-द्वारा साधारण-से-साधारण प्रसङ्ग में भी गूढ साङ्केतिक अभिप्राय समाविष्ट रखते हैं। उनकी कवि-प्रतिभा उनकी अन्तर्दृष्टि को जागरूक रखने में सहायक हुई है। उनके लिए काव्य एक सुन्दर साधन है आत्म-ज्योति के प्रकाशन का। नि सन्देह यह साधन आत्माभिव्यक्ति के सम्पूर्ण साधनो में रुचिरतम होने के कारण भावुकता-पूर्ण है, नीरस तर्कना-पूर्ण नही। कवित्व की आँखो से रवीन्द्रनाथ की अन्तर्दृष्टि वाह्य विश्व के अन्तस् में इस प्रकार पहुँचती है जिस तरह शरीर के आवरण को पार कर चेतना मर्म्मस्पर्श करती है। इस अन्त-र्दृष्टि के कारण ही रवीन्द्रनाथ साहित्य और समाज के उन परोक्ष सत्यो को उद्घाटित करते हैं जो केवल वाह्य स्थितियो का ही अध्ययन करने वालो के स्थूल ज्ञान की अपेक्षा अधिक नूतन और निगूढ होते हैं।

रवीन्द्रनाथ के कवि-हृदय को 'रूपक' के प्रति अधिक आकर्षण है। यह रूपक साङ्केतिक रहस्यवाद के रूप में उनके नाटको और निवन्धो में प्रचुरता से दीख पडता है। निवन्धो में उनका रहस्यवाद अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करता है।

कुछ समय पूर्व 'वीणा' में शान्ति-निकेतन के हिन्दी-अध्यापक और मेरे सम्मानित मित्र पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा

था—"आये दिन रवीन्द्रनाथ के कृपालु समालोचक उनके नाटको को मिस्टिसिज्म की बुनियाद पर रचित बता कर बिना विचार किये नाटक की सीमा के बाहर पहुँच जाते है। प्रथम तो रवीन्द्र-नाथ के नाटकों में सबके सब इस मिस्टिसिज्म (रहस्यवाद) की बुनियाद पर नही बने, जो कुछ है भी वे इतने सीधे-सादे और मार्म्मिक हैं कि लेखक उन बुद्धिमान आदमियो के इस तर्क को समझ ही नही सकता। मुझे नही मालूम होता कि 'राजा' (रवीन्द्र-नाथ का नाटक) को रानी की आत्मा का प्रतीक समझने वालो को कौन-सा रस-निर्झर मिल जाता है, जो उसे सीधी रानी समझने वालो को नही मिलता। उन्हें कुछ बुद्धिमूलक आनन्द मिल जाता होगा, परन्तु रस की प्रसन्न निर्झरिणी से भेंट नही होती होगी।"

श्री हजारीप्रसाद जी के इस उलाहना को उनकी निजी रुचि के लिए सुरक्षित रहने देकर हम निवेदन करेंगे कि रवीन्द्र की कृतियो में जहाँ रहस्यवाद नही है वहाँ उसे मानना तो कवि के प्रति अन्याय होगा ही, किन्तु जहाँ रहस्यवाद है वहाँ न मानने से भी अन्याय होगा। रवीन्द्रनाथ के नाटको में, छोटे-छोटे सरल वाक्यो मे ही प्राय निगूढ रहस्य निहित रहता है। उदाहरण के लिए पूर्वोक्त 'राजा' नाटक के इस कथोपकथन को लीजिये—

प्रथम पथिक—अजी महाशय !

पहरेदार—क्या जी ?

दूसरा पथिक—रास्ता कहाँ है ? हम लोग विदेशी हैं, हमें रास्ता बता दो।

पहरेदार—कहाँ का रास्ता ?

तीसरा पथिक—सुना है, आज कही उत्सव होगा। किधर से रास्ता है ?

पहरेदार—यहाँ सब रास्ता ही रास्ता है। जिधर से जाओगे, ठीक स्थान पर पहुँच जाओगे। सामने चले जाओ।—(प्रस्थान)

पहला पथिक—सुनो, एक बार इसकी बातें तो सुनो। कहता है, सब एक ही रास्ता है। यदि यही होता तो इतने (रास्तो) की जरूरत ही क्या थी !

इस कथोपकथन में पथिक और पहरेदार रूपक मात्र हैं। इसमें कवीन्द्र का साङ्केतिक अभिप्राय यह है कि परमात्मा तक पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न मतो के मनुष्य परमात्मा के यथार्थ जानकार के पास आते हैं। वह विना किसी भेद-भाव के सभी मतो-द्वारा उसकी उपलब्धि बतलाता है, परन्तु मतावलम्बियो का सशय दूर नही होता, कहने लगते हैं—यदि यही होता तो इतने रास्तों की जरूरत क्या थी।

वावू मैथिलीशरण गुप्त ने भी एक ऐसा ही साङ्केतिक अभिप्राय अपनी एक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है—

तेरे घर के द्वार वहुत हैं
किसमें होकर आऊँ मैं ?
सव द्वारो पर भीड मची है
कैसे भीतर जाऊँ मैं ?

द्वारपाल भय दिखलाते हैं,
कुछ ही जन जाने पाते हैं,

शेष सभी धक्के खाते है,
क्योकर घुसने पाऊँ मैं ?
तेरे घर के द्वार बहुत है
किसमें होकर आऊँ मैं ?

रवीन्द्रनाथ के गूढ वाक्यो की यही विशेषता है कि उनका बाह्य अभिप्राय नाटक के कथा-प्रवाह को विचलित नही करता, उतने ही से तृप्त होने वालो को भी रस प्रदान करता है, किन्तु आन्तरिक अभिप्राय को हृदयङ्गम करने पर वह और भी मर्म्मस्पर्शी हो जाता है।

उनके नाटको में प्राय. दो प्रवाह एक साथ ही चलते हैं—एक बाहरी सतह पर, दूसरा भीतरी सतह पर। जिनकी पहुँच उनकी बाहरी सतह तक ही रहती है वे कवीन्द्र के 'शारदोत्सव' के अर्थ-कृपण लक्षेश्वर नामक पात्र की भाँति ही अनभिज्ञ रह जाते हैं। यथा—

[लक्षेश्वर का प्रवेश]

लक्षेश्वर—बाबा, तुम्ही अपूर्वानन्द हो—(यह कल्पित नाम उस त्यागी हृदय राजराजेश्वर का है जो अपने राज्य के दुखी जनो की परिस्थितियो और जनसाधारण की मनोवृत्तियो का अध्ययन करने के लिए गुप्त रूप से सन्यासी बन कर बाहर निकला है)—तब तो बड़ा अपराध हो गया। मुझे माफ करो।

संन्यासी—तुमने मुझे पाखण्डी सन्यासी कहा था, यदि यही अपराध है तो तुम्हें मैंने माफ किया।

लक्षेश्वर—बाबा, केवल माफ करना तो सबसे हो सकता है, उससे मुझे ही क्यो न्यारे रखोगे। मुझे कोई एक अच्छा-सा वरदान दो।

सन्यासी—क्या वरदान चाहिये ?

लक्षेश्वर—लोग जितना समझते हैं उतना तो नही, फिर भी मेरे पास थोडा-सा धन जमा है, वह बहुत ही कम है, इसलिए मेरे मन की हविस नही मिटती। शरदकाल आ गया, अत घर में बैठते नही बनता, अब मैं वाणिज्य के लिए घर से बाहर जाऊँगा। कहाँ जाने से सुभीता हो सकता है, इसी की खोज कर दो जिससे मुझे अधिक भटकना न पडे।

सन्यासी—मैं भी तो इसी खोज में हूँ।

लक्षेश्वर—(पास जाकर मीठे स्वर में)—कुछ खोज कर पाये ?

सन्यासी—खोज पाने में कुछ बाकी है, नही तो इस तरह क्यो भटकता ?

लक्षेश्वर—(सन्यासी के चरणो को जोर से पकड कर)—बाबा, तनिक और साफ करके कहो। तुम्हारे पैर छूकर कहता हूँ कि मैं तुम्हें एकबारगी धोखा न दूँगा। क्या खोजते हो, कहो तो। मैं किसी से कहूँगा नही।

सन्यासी—अच्छा सुनो। लक्ष्मी जिस स्वर्ण शतदल के ऊपर अपने युगल चरण रखे विराजमान है, मैं उसी शतदल की खोज में हूँ।

लक्षेश्वर—ओ बाबा ! यह तो छोटी बात नहीं । इससे तो सब झंझट एकबारगी दूर हो जायगी । यह तो तुम सोच-सोच कर अच्छी युक्ति निकाल रहे हो । यदि किसी उपाय से उस कमल (स्वर्ण शतदल) को जुगा लो तो तुम्हें लक्ष्मी को फिर न खोजना पड़ेगा, स्वयं लक्ष्मी ही तुम्हें खोजती फिरेगी । अन्यथा, हम चञ्चला लक्ष्मी को सुस्थिर नहीं कर सकते । तुम्हारे पास उसके दोनों पाँव बँधे रहेंगे । तुम तो संन्यासी हो, अकेले यह बोझ कैसे उठा सकोगे, इसके लिए तो खर्च चाहिये । एक काम करो न बाबा ! यह काम मेरे साझे में करो ।

सन्यासी—इसके लिए तुम्हें भी सन्यासी होना पड़ेगा और बहुत दिनों तक तुम सोने को छूने भी न पाओगे ।

लक्षेश्वर—तब तो बड़ी कठिन बात है ।

सन्यासी—सब काम छोड़ कर जब इस काम की ओर लगोगे तभी यह पूरा होगा ।

लक्षेश्वर—नहीं तो दोनों तरफ से जाते रहेंगे । यदि एकबारगी तुम मुझे धता न बता दो तो मैं तुम्हारा सब सामान कन्धे पर लाद कर पीछे-पीछे चलने के लिए राजी हूँ । सच ही कहना बाबा ! कभी मैं किसी का बहुत जल्द विश्वास नहीं कर लेता, किन्तु तुम्हारी बात कुछ-कुछ मन में लग रही है । अच्छा अच्छा, मैं राजी हूँ । मैं तुम्हारा चेला होऊँगा ।—(प्रस्थान)

[पुन: प्रवेश]

लक्षेश्वर—बाबा, मैंने हर तरह से देखा, मुझसे नहीं हो सकता ।

तुम्हारा चेला होना मेरा काम नही है। मैंने जो कुछ उपार्जित किया है वह बडे-बडे कष्ट उठा कर। तुम्हारी एक बात से सब छोड-छाड देने से मैं अन्तिम काल में हाय-हाय करके मरूँगा। मझे अधिक मतलब से काम नही। यही तो मुश्किल बात है। देखता हूँ कि इसे (धन को) मिट्टी में गाड कर हठात् एक दिन मर गया तो कोई भी पता नही पायेगा।

सन्यासी—राजा भी नही, सम्राट भी नही, यह मिट्टी सबको जट लेगी, तुम्हें जटेगी और मुझे भी।

लक्षेश्वर— जो हो बाबा, लेकिन तुम्हारे मुख की यह 'स्वर्ण कमल' वाली बात तो मुझे बडी ही अच्छी लगी। मेरे मन में ऐसा लगता है कि तुम उसे खोज सकोगे। किन्तु उसके लिए मुझसे तुम्हारा चेला होते न बनेगा। प्रणाम।—(प्रस्थान)

[ठाकुर दादा का प्रवेश]

सन्यासी—ठाकुर दादा, आज बहुत दिनो पर एक बात खूब साफ समझ पडी, सो तुमसे खोल कर कहे बिना नही रहा जाता।

ठाकुर दादा—मेरे ऊपर आपकी बडी दया है।

सन्यासी—अनेक दिनो से मुझे यह भावना होती थी कि ससार ऐसा आश्चर्य्यजनक और सुन्दर क्यो है! कुछ भेद नही पाता था। आज साफ-साफ प्रत्यक्ष देख रहा हूँ—ससार अपनी सम्पूर्ण शक्ति और त्याग से 'आनन्द' का ऋण-शोध कर रहा है। इधर धान के खेत में हरा-भरा ऐश्वर्य्य भर उठा है, उधर वेतस नीर (नदी) का जल भी कूल-कूल पर भरपूर हो उठा है। कही भी इस साधना में तनिक भी विश्राम नही, इसीलिए तो इतना सौन्दर्य्य है।

ठाकुर दादा—एक तरफ अनन्त भण्डार है जिसे वह ढुलकाये देते हैं, दूसरी तरफ कठिन दुःख है जिसका शोध हो रहा है। उस दुःख में क्या आनन्द और सौन्दर्य्य है, मैं तुमसे पहले ही सुन चुका हूँ। प्रभु! इसी दुःख के जोर से लेन-देन का वजन अधिक से बराबर हो जाता है, सन्तुलन कितना सुन्दर है!

सन्यासी—ठाकुर दादा, जिस जगह आलस्य और कृपणता है वही यह ऋण-शोध ढीला पड जाता है। वही सम्पूर्ण कुश्री और दुर्व्यवस्था है।

ठाकुर दादा—वही तो, जब एक ओर से कमी पड जाती है तब दूसरी ओर से मिलने पर भी पूरी नही हो पाती।

सन्यासी—लक्ष्मी जब मनुष्यो के दुःख-लोक में आती है तब दुःखिनी होकर। उसकी साधनामयी तपस्विनी छवि से ही भगवान् मुग्ध हो जाते हैं। सौ-सौ दुःखो के पल में ही उसका स्वर्ण शतदल ससार में फूट पड़ता है, इस बात का पता आज मैंने उपनन्द (एक अनाथ बालक) के पास पाया।

[लक्षेश्वर का प्रवेश]

लक्षेश्वर—तुम लोग चुपचाप क्या परामर्श कर रहे हो?

सन्यासी—हम लोग उसी स्वर्ण कमल का परामर्श कर रहे हैं।

लक्षेश्वर—आँय! इसी बीच में ठाकुर दादा से सब भेद खोले देते हो। बाबा, तुम इसी व्यवसाय-बुद्धि से स्वर्णकमल लेकर आमदनी करोगे! तब हो चुकी! तुमने जहाँ समझा कि मैं राजी नही हूँ, तहाँ झट से दूसरा साझीदार खोजने लगे। किन्तु

यह सब क्या ठाकुर दादा का काम है ? क्या उनके पास पूँजी है ?

सन्यासी—तुम्हें मालूम नही। ठाकुर दादा के पास एकदम पूँजी नही है, सो बात नही, उन्होने भीतर ही भीतर जमा कर रखा है।

लक्षेश्वर—(ठाकुर दादा की पीठ ठोक कर) ठाकुर दादा, सच है क्या ? तुमने तो बडा छिपाया ! तुम्हें पहिचान न सका ! लोग मुझ पर ही सन्देह करते है। तुम्हारे ऊपर तो राजा भी सन्देह नही कर सकता, नही तो अब तक खानातलाशीहो गयी होती। मैंने तो दादा, भेदिया हो जाने के डर से नौकर-चाकर तक नही रखा।

× × ×

कविवर ने यह छोटा-सा नाटक बालको के हेतु शारदीया पूजा के अवसर पर खेलने के लिए लिखा है। स्वय सन्यासी का वेप धारण कर उत्फुल्ल शिशुदल के साथ जव कभी वे नाटक की भूमिका में उतरे होगे तब वह दृश्य न जाने कितना स्वर्गीय हो उठा होगा। विशेष-विशेप अवसरो पर खेलने के लिए इसी प्रकार अन्यान्य छोटे-छोटे नाटक भी उन्होने लिखे है। अवोध साधारण जनता के लिए ये नाटक रहस्य-पूर्ण होते हुए भी दुर्वोध नहीं हो जाते, कारण, उनमें गूढता होते हुए भी कवि की भाव-व्यञ्जना और चित्रचारुता मन स्पर्श करती है। नाटकीय वातचीत का ढंग ही उनके अभिप्राय को अन्त में स्पष्ट कर देता है। रवीन्द्रनाथ वाह्य रङ्गमञ्चो पर ज्योतिपुरुप वन कर अन्तर्जीवन की रहस्यपूर्ण झाँकी उतारते है। प्रसङ्गानुसार उनकी यह झाँकी कही दृश्यमान् रहती है, कही

अदृश्य। दृश्य-अंश अज्ञजनो की अज्ञानता की थाह लेता है तथा अदृश्य-अंश विज्ञजनो के अन्तश्चक्षुओ को सहयोग देता है। इसीलिए 'शारदोत्सव' का स्वर्णकमल लक्षेश्वर के लिए दुर्बोध है, ठाकुर दादा के लिए सुबोध। किन्तु दुर्बोध अंश भी अपनी हास्य-रोचकता से रुचिर हो गया है, अन्यथा, नाटक नाटक नही रह जाता।

श्री हजारीप्रसाद जी कहते हैं—"रवीन्द्रनाथ ने अपनी कविता में किसी रूपक को निकालने का सदैव निषेध किया है।"

सम्प्रति रवीन्द्रनाथ की कविता हमारा विषय नही, किन्तु इतना निवेदन है कि अपनी गद्यकृतियो में कवीन्द्र रूपक का मोह छोड नही पाते, साधारण कथाओ में भी उसी के द्वारा अन्तर्मुखी प्रेरणा जगाते है। उनके 'पञ्चभूत' नामक निबन्ध-संलाप में भी गूढ रूपक यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। साहित्य में रूपक ही अदृश्य गूढता को सुगम करता है, जैसे वैष्णव कवियो का सगुण। महात्मा जी ने भी गीता को एक रूपक के रूप में ग्रहण कर उसकी जटिलता को अपनी दृष्टि से सहज बनाया है।†

'कुमार'

सन् १६३६

† यह लेख कविगुरु के जीवन-काल में लिखा गया था, अतएव तात्कालिक रूप में ही रहने दिया गया है।

'प्रसाद' की भाव-सृष्टि

बाबू जयशङ्करप्रसाद ('प्रसाद') का काव्यारम्भ ब्रजभाषा में हुआ था। किन्तु जैसे अपनी कुल-परम्परा में वे नवीन तारुण्य लेकर उदित हुए थे वैसे ही ब्रजभाषा में रोमैन्टिक प्रतिभा लेकर अङ्कुरित हुए थे। आज जिसे हम खडीबोली में छायावाद कहते है उस छायावाद का श्रीगणेश उन्होने ब्रजभाषा में ही कर दिया था। उनकी विविध आरम्भिक कृतियो के सङ्ग्रह 'चित्राधार' में यह नवीनता देखी जा सकती है। 'चित्राधार' के बाद जब वे खडी-बोली की ओर प्रेरित हुए तो छायावाद की जो सूक्ष्म व्यञ्जकता 'प्रेमपथिक', 'कानन-कुसुम' और 'झरना' में व्यक्त हुई, वही उनकी परवर्त्ती रचनाओ ('आँसू', 'लहर', नाटकीय गीतो और 'कामायनी') में विकसित होती गयी।

'प्रसाद' को छायावाद की प्रेरणा कहाँ से मिली? किसी प्रतिभाशाली कवि की सबसे बडी प्रेरणा तो उसकी अन्त प्रेरणा ही होती है, फिर भी स्वयरुह की तरह उगने वाली प्रतिभा के लिए भी खाद-पानी-मिट्टी-वातावरण और प्रकाश की आवश्यकता पडती है। प्रतिभा स्वाध्याय के द्वारा ही अपने इन पोषक तत्त्वो को स्वायत्त करती है, अनुभूति के द्वारा सुपाच्य बना लेती है, मनन-चिन्तन के द्वारा रस-शुद्धि और रस-पुष्टि कर लेती है, अन्त प्रेरणा

के द्वारा अपने अभीप्ट विकास की दिशा पहिचान कर उसी ओर उन्मुख हो जाती है।

स्वाध्याय जीवन का भी चाहिये और साहित्य का भी चाहिये। जीवन के स्वाध्याय से ही अनुभूति होती है। प्रसाद जी को पारिवारिक और व्यावसायिक कारणो से किशोरावस्था में ही अनुभूतिशील हो जाना पडा। सास्कृतिक वातावरण ने उन्हें दार्शनिक वना दिया।

जीवन की तरह ही प्रसाद जी ने साहित्य का भी पर्य्याप्त स्वाध्याय किया था। अपनी प्रारम्भिक रचनाओ में वे संस्कृत और व्रजभापा से प्रभावित थे, किन्तु क्या अग्रेजी और वँगला का प्रभाव उन पर नही पड़ा था? उनकी काव्यशैली में यह प्रभाव प्रत्यक्ष नही दिखाई देता, परन्तु परोक्ष-रूप से इसका अभाव नही है। कदाचित् प्रसाद जी अग्रेजी और वँगला के सम्पर्क मे सीवे नही आये थे, अनुवादो-द्वारा ही वे प्रभावित हुए थे। रवीन्द्रनाथ की 'गीताञ्जलि' और गोल्डस्मिथ के अंग्रेजी खण्डकाव्यो का अनुवाद उसी समय हो गया था जव प्रसाद जी व्रजभापा में कविता लिखते थे। यदि पन्त और निराला की तरह अग्रेजी और वँगला से उनका सीवा सम्वन्ध होता तो उनकी कविता का कलात्मक रूप कुछ और ही होता। श्रीधर पाठक-द्वारा किये गये अनुवादो से (गोल्डस्मिथ के खण्डकाव्यो से) उन्हें 'प्रेम पथिक' की प्ररणा मिली थी। पाठक जी को ही वे खडीवोली का नवप्रवर्त्तक कवि मानते थे।

वक्तृत्व की निर्वन्धता है। ऐसा जान पडता है कि प्रसाद जी नदी की धारा की तरह किसी मर्य्यादित परिधि में कला को प्राणान्वित नही कर सकते। यद्यपि वे कहते है—

मधु सरिता-सी यह हँसी, तरल-
अपनी पीते रहते हो क्यो ?

तथापि सरिता की अपेक्षा—

अधरो के मधुर कगारो में
कल-कल-ध्वनि की गुञ्जारो में

—उनकी कला को प्रपात की तरह विशद क्षेत्र मिलता है। उनमें गार्हस्थ्य नही, स्वच्छन्द पार्वत्य है। एक गीत में उन्होने कहा है—

पैरो के नीचे जलधर हो विजली से उनका खेल चले
सङ्कीर्ण कगारो के नीचे शत-शत झरने वेमेल चले
सन्नाटे में हो विकल पवन पादप निज पद हो चूम रहे
तव भी गिरिपथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले

'विजली से खेल', 'वेमेल झरने', 'विकल पवन', 'सब झेल चले', ऐसा ही प्रसाद का स्वभाव और भाषा-भाव है। कविता की अपेक्षा नाटको और प्रवन्ध-काव्यो में उन्हें अपने अनुकूल गद्य-आधार मिल जाता है। गद्य का ही आधार पाकर छोटी-छोटी प्रेम-कहानियो में वे अपने गीतो का भाव-जगत अधिक सफलतापूर्वक प्रत्यक्ष कर सके हैं। सोते की तरह वहते हुए गीतो के वातावरण में उनकी कहानियाँ किसी सुहावनी वनस्थली की तरह मनोरम हैं।

भाषा की तरह ही प्रसाद जी के छन्द और अन्त्यानुप्रास भी प्राय. बेमेल हैं। उनकी रचनाओ मे भावावेग है किन्तु समुचित छन्द और तुक के अभाव में रसानुरूप प्रवाह नही बन पाता। उनका वाग्बन्ध छन्दोबद्ध गद्य अथवा पद्य का-सा है। उन्होने कभी चतुर्दश पदियाँ और अतुकान्त कविताएँ भी लिखी थी, कविता की अपेक्षा वे उनके गद्य-माध्यम के अनुकूल थी।

प्रसाद जी की प्रारम्भिक कविताओ के बाद की भाषा अस्पष्ट और उलझी हुई होने पर भी उसमे उद्गारो की ऐसी नाटकीय भङ्गिमा है जिससे रागात्मकता उत्पन्न हो जाती है। यथा—

निज अलको के अन्धकार में तुम कैसे छिप आओगे?
इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।

अथवा—

यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरो की दिखलाऊँ मैं

'इतना सजग कुतूहल! ठहरो' तथा 'यह विडम्बना! अरी सरलते'—इन वाक्यो में आकस्मिक नाटकीय स्वाभाविकता है। इसी तरह कविता में प्रसाद के अन्य नाट्यप्रयोग भी देखे जा सकते हैं। उद्गारो की प्रहेलिका और भङ्गिमा से उनकी कविता की एक अपनी विशेष शैली बन गयी है।

उद्गारों की तरह ही उनके भाव भी सांकेतिक हैं। यों कहें, उनकी शैली और भाव: दोनो ध्वन्यात्मक हैं। 'प्रसाद' का प्रसाद सबके लिए सुलभ नही है, उसे पाने के लिए प्रवीण पात्र

चाहिये। यद्यपि शैली की दृष्टि से अवगुण्ठित और भाव की दृष्टि से सम्पुटित उनकी कविता अन्तर्निगूढ है तथापि वह अपनी रागात्मकता से अनुभूतियो की ऐसी मीड उठा जाती है जो किसी अज्ञात सङ्गीत की तरह ही अनिर्वचनीय प्रभाव छोड जाती है। हृदय अवाक् और स्तब्ध हो जाता है। वह कुछ खोजने लगता है। ऐसा जान पडता है—

श्रुतियो में चुपके-चुपके से
कोई मधु-धारा घोल रहा,
इस नीरवता के परदे में
जैसे कोई कुछ बोल रहा।

उस 'कोई' और 'कुछ' को स्पष्ट रूप से कवि भी नही समझ पाता है। 'कामायनी' के मनु के शब्दो में मानो वह भी अनुभव करता है—

मैं भी भूल गया हूँ कुछ
हाँ स्मरण नही होता, क्या था!
प्रेम, वेदना, भ्रान्ति या कि क्या
मन जिसमें सुख सोता था।

प्रसाद जी अपनी कविताओ में कुशल चित्रकार हैं। दृश्यजगत के स्थूल चित्र तो है ही, उन्होने सूक्ष्म अनुभूतियो और मनोवृत्तियो को भी प्रत्यक्ष कर दिया है। दृश्यजगत के प्रति प्रसाद जी को अधिक आकर्षण है, क्योकि इस स्थूल जगत में सूक्ष्म ही जीवन्त हो गया है। ऐसा ही दृष्टिकोण कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त का

भी है, किन्तु वे देखते हैं—बाह्यजगत अन्तर्जगत से प्रभावित होता है, प्रसाद जी देखते हैं—अन्तर्जगत बाह्यजगत से प्रभावित होता है। अन्तर्जगत किस तरह बाह्यजगत (दृश्यजगत) में परिणत हो जाता है और कवि-हृदय जीवन का कैसा मधुर अनुभव करने लगता है, यह संक्षिप्त भावात्मक वृत्त 'झरना' की 'मनोवृत्तियाँ खग-कुल-सी थी सो रही' में देखा जा सकता है। पन्त की 'प्रथम रश्मि' और प्रसाद के 'झरना' के 'प्रथम प्रभात' का दृश्यजगत एक है, किन्तु कला की दृष्टि से दोनो में कविता और गद्य का जो सस्कारगत अन्तर है वह यहाँ स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

प्रसाद जी की कविताओ में कला-पक्ष की अपेक्षा अनुभूति-पक्ष प्रबल है। आचार्य्य शुक्ल जी को उनकी अनुभूतियो में 'मधुचर्य्या' का आधिक्य दिखाई पडा था। इसमें सन्देह नही कि प्रसाद जी का मूलराग प्रणय-राग है। 'हस' के आत्मकथा-अङ्क के लिए उन्होंने जो कविता लिखी थी उसमें भी यही प्रणय-राग है—

उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातो की
अरे खिलखिला कर हँसते होने वाली उन बातो की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देख कर जाग गया
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलो की मतवाली सुन्दर छाया में
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की
सीवन को उधेड कर देखोगे क्यो मेरी कन्था की ?

क्या प्रणय-कथा ही प्रसाद की आत्मकथा है? उसमें कितनी अतृप्ति है!—

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देख कर जाग गया
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।

चाँदनी रात, माधवी कुञ्ज, स्वप्निल निद्रा, मधुर आकाक्षा, प्रणय-निराशा, दार्शनिक सान्त्वना, प्रसाद की प्राय सभी कविताएँ इन्ही शृङ्गारिक प्रवृत्तियो का आख्यान-प्रत्याख्यान सुनाती हैं।

प्रणय-राग तो सृष्टि का भी मूलराग है। फिर प्रसाद जी को अपनी आत्मकथा कहने में सङ्कोच क्यो है? वे कहते है—

सुन कर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्मकथा?
अभी समय भी नही—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

क्या समयाभाव और थकान ही उनके सङ्कोच का कारण है? यह तो वाह्य कारण है। वास्तविक कारण से उनके व्यावहारिक जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। प्रसाद जी ने कहा है—

छोटे-से जीवन की कैसे वडी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नही कि औरो की सुनता मैं मौन रहूँ?

इन शब्दो में प्रसाद जी की तटस्थता है। किन्तु क्या यह तटस्थता निर्लिप्त है? दार्शनिक है, सासारिक नही? हम उन्ही के शब्दो में उन्हें देखें—

तव भी कहते हो—कह डालू दुर्वलता अपनी वीती
तुम सुन कर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती!

किन्तु कही ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले !

प्रसाद जी जब कहते हैं—'औरो की सुनता मौन रहूँ', तब दूसरे भी तो उनसे यह कह सकते हैं—'मेरा रस ले अपनी भरने वाले !'

औरो की सुन कर अपनी भरने में कनरस का सुख मिलता है। जब यह सुख एकतरफा हो जाता है, इसमें आदान-प्रदान नही रहता, तब यह स्वार्थ की तरह ही उपभोग मात्र रह जाता है। जान पडता है, अन्य सासारिक जनो की तरह ही प्रसाद जी में भी सामाजिक कृपणता थी।

उनकी कविताओ से ज्ञात होता है कि वे उपभोग की आकाक्षा ही करते रह गये। 'राज्यश्री' के इस गीत में मानो उनकी विकलता चीत्कार कर उठी है—

आशा विकल हुई है मेरी
प्यास बुझी न कभी मन की रे !
दूर हट रहा सरवर शीतल
हुआ चाहता अब तो ओझल
झुक जाती है पलकें दुर्बल
ध्वनि सुन न पडी नव घन की रे !

कभी-कभी चौंक कर पूछ बैठते है—

अरे कही देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को ?

मेरी आँखो में आकर फिर
आँसू बन ढरने वाले को ?

—('लहर')

अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेम न कोई किसी को देता है, न लेता है। वह एक मिथ्या व्यापार है। 'लहर' की एक कविता में उन्होंने कहा है—

'पागल रे! वह मिलता है कब
उसको तो देते ही है सब'—इस पक्ति में कितना

व्यग्य है!

छायावाद के प्राय सभी कवियो का सासारिक अनुभव निराशापूर्ण है। पौरुप के कवि निराला जी को भी कहना पडा—'मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?' पन्त जी ने 'गुञ्जन' की 'एकतारा' शीर्षक कविता में कहा है—

दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन!

महादेवी जी 'निष्फल इच्छा' ('करुण अभाव') को ही अपनी परितृप्ति बना लेती है, कहती हैं—'बस एक करुण अभाव में चिर तृप्ति का ससार मेरा।'

प्रसाद और महादेवी की करुण अनुभति उनकी विरह-वेदना की प्रतिक्रिया है। 'वुद्ध शरण गच्छामि'—ससार से असन्तुष्ट होकर उन्होने भी वुद्ध की करुणा का सम्वल लिया है। 'प्रसाद' ने कहा है—

'मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।'—उनकी कविताओं में यत्र-तत्र इसी करुणा का माहात्म्य है। उनकी संवेदना इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

किसी हृदय का यह विषाद है
छेड़ो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
करुणा का यह थका चरण है।
—('झरना')

.. ..

करुणा-कादम्बिनि बरसे
दुख से जली हुई यह धरणी
प्रमुदित हो सरसे।
—('प्रसाद-सङ्गीत')

.. .

सुधा-सीकर से नहला दो!
करुणा के अञ्चल पर निखरे
घायल आँसू हैं जो बिखरे
ये मोती बन जायँ, मृदुल कर से लो
सहला दो!
—('प्रसाद-सङ्गीत')

अपने ताप-उत्ताप-सन्ताप को शीतल करने के लिए प्रसाद जी ने प्रियतम से कहा है—

मेरी आँखों की पुतली में
तू बन कर प्राण समा जा रे!

जिससे कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो,
करुणा का नव अभिनन्दन हो,
वह जीवन-गीत सुना जा रे !

—('लहर')

स्नेहालिङ्गन की लतिकाओ की झुरमुट छा जाने दो
जीवन-धन ! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो ।

—('लहर')

निर्जन कर दो क्षण भर कोने में, उस शीतल कोने में,
यह विश्राम सँभल जायेगा सहज व्यथा के सोने में ।

—('प्रसाद-सङ्गीत')

किन्तु प्रसाद जी को जैसे मधुर तृप्ति नही मिली, वैसे ही करुण शान्ति भी नहीं मिली । 'आँसू' की निराशा उनकी किशोर रचना 'विशाख' की इन पक्तियो में भी देखी जा सकती है—

सखी री ! सुख किसको हैं कहते ?
वीत रहा है जीवन सारा, केवल दुख ही सहते ।
करुणा कान्त कल्पना है बस, दया न पडी दिखाई
निर्दय जगत कठोर हृदय है, और कही चल रहते,
सखीरी ! सुख किसको हैं कहते ?

इसी दारुण अनुभूति से विकल होकर 'लहर' में प्रसाद ने यह एकान्त-कामना की है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानो में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे !

क्या यह प्रसाद का पलायन है ? शृङ्गार की तरह यदि करुणा भी केवल एक 'कान्त कल्पना' है तो प्रकृति के निर्जन प्रदेश में भी शान्ति कैसे मिल सकती है !

बुद्ध ने 'कोलाहल की अवनी' छोड कर करुणा की साधना नही की थी। उन्होंने कोलाहल में ही शान्ति की अवतारणा की थी।

प्रसाद और महादेवी की करुणा वियोग-शृङ्गार से उद्भूत है। उनकी सहानुभूति मे अपनी अनुभूति के लिए आश्वासन है, आत्म-सान्त्वना है। ऐसी सहानुभूति, ऐसी करुणा मे स्व का उत्सर्ग नही हो सकता। प्रसाद ने एक गीत में कहा है—

सच्चा सुख सन्तोष जिसे है उसे विश्व में मिलता है,
पूर्णकाम के मानस में बस शान्ति-सरोरुह खिलता है।

प्रसाद जी पूर्णकाम नही, अतृप्त काम थे, अतएव, उनमें (अथवा उनकी श्रेणी के किसी अन्य व्यक्ति में) रागात्मक दुर्बलताएँ अनिवार्य्य हैं।

बुद्ध की करुणा अतृप्त शृङ्गार से नही, भोग के उपराम मे उत्पन्न हुई थी। क्षणभङ्गुरता ने उन्हें ससार के सभी रागो से विरक्त कर दिया था।

प्रसाद की कविताओं और नाटकों पर बौद्धदर्शन का पर्य्याप्त प्रभाव है। वे भी क्षणभङ्गुरता से सजग हैं। 'अजातशत्रु' के एक गीत में कहा गया है—

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना
दुःखमूल यह भूल महा।
चञ्चल मानव! क्यों भूला तू
इस सीठी में सार कहाँ?

'स्कन्दगुप्त' से देवसेना कहती है—"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सब क्षणिक सुखों का अन्त है। सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिये।" यह तर्क जँचता नहीं, इसमें तो वीतरागता नहीं, विवशता है।

'स्कन्दगुप्त' की इन पंक्तियों में क्षण-भङ्गुरता का कितना आतङ्क है—

धूप-छाँह के खेल सदृश
सब जीवन बीता जाता है।
समय भागता है प्रतिक्षणमें
नव-अतीत के तुषार-कणमें
हमें लगा कर भविष्य-रणमें
आप कहाँ छिप जाता है?

देवसेना गाती है—

चढ़ कर मेरे जीवन-रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथ पर

मैंने निज दुर्बल पद-बल पर
उससे हारी होड लगाई।

बुद्ध ने इस क्षणभङ्गुर ससार से मुक्ति का रचनात्मक उपाय बताया। प्रसाद ने बुद्ध का बौद्धिक पक्ष अपनाया, उनका रचनात्मक पक्ष छोड दिया। उनकी विवश प्रव्रज्या (अभावजन्य विरक्ति) उस आपद्धर्म्म की तरह है जिसमें एषणा दमित वासना की तरह दबी रहती है और सुख का अवसर सामने आने पर पछताने लगती है—

"आह, वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रमवश जीवन-सञ्चित
मधुकरियो की भीख लुटाई।"

प्रसाद जी वियोग-शृङ्गार से आध्यात्मिक शान्ति की ओर चले गये। आचार्य्य शुक्ल जी ने व्यग्य किया है—"इनकी रहस्यवादी रचनाओ को देख चाहे तो यह कहे कि इनकी मधुचर्य्या के मानस-प्रसार के लिए रहस्यवाद का पर्दा मिल गया अथवा यो कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूद कर असीम पर जा रही।"

प्रश्न यह है कि करुण शृङ्गार से शान्त अध्यात्म की ओर जाने के लिए उन्होंने जिस 'कोलाहल की अवनी' को छोड देना चाहा था, क्या उसे सचमुच छोड दिया? छोड सके? नहीं, वह तो उनके नाटको, उपन्यासो और 'कामायनी' के सघर्ष में है। उसके बिना प्रसाद का साहित्य खोखला हो जाता।

प्रसाद जी एकदम 'ससीम पर से कूद कर असीम पर' नही गये। वे समुद्री पक्षी की तरह भव-सागर में तैरते हुए और भावाकाश में उडते हुए गये हैं। हाँ, यह चिन्तनीय है कि वे भवसागर (वस्तुजगत) को कोई मौलिक रचनात्मक दृष्टिकोण नही दे सके। 'तितली' में वे ग्रामोत्थान की ओर उन्मुख हुए थे, किन्तु उस दिशा में प्रेमचन्द जी पहिले ही कदम बढा चुके थे। आधुनिक युवती शैला की तरह ही प्रसाद जी का ग्राम्य सम्पर्क औपचारिक है, प्रेमचन्द जी का हार्दिक है। वे स्वय ग्रामीण थे।

रचनात्मक दृष्टि से प्रसाद जी 'कामायनी' की श्रद्धा के एकान्त जीवन में वौद्धधर्म्म की करुणा और गान्धी जी के कुटीर-उद्योग का सङ्केत कर गये हैं। फिर भी वस्तुजगत की जटिल समस्या श्रद्धा के सामने वैसे ही आ उपस्थित हुई जैसे आज वुद्ध और गान्धी के वाद उपस्थित है। प्रसाद जी इस समस्या को सम्पूर्ण समाधान नही दे सके। वौद्ध और गान्धी-दर्शन पडा रह गया, अन्त हिन्दू-दर्शन के अध्यात्म से हो गया। कुमार और इडा (नयी पीढी) को अपना सार्वजनिक उत्तराधिकार देकर मनु और श्रद्धा ने आत्म-शान्ति के लिए वानप्रस्थता ले ली। इस तरह व्यक्तिगत साधना और लोकसाधना में पार्थक्य आ गया, समन्वय नही हो सका। प्रसाद जी जिस आत्मसाधना को साध्य वना गये हैं वह प्राचीन समाज-व्यवस्था की दृष्टि से ठीक है, किन्तु उसे सर्वसुलभ करने के लिए नयी अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल वनाना होगा। गान्धी-दर्शन से ही सावन और साध्य की एकता स्थापित हो सकती है। इस

युग में गान्धी जी के राजनीतिक उत्तराधिकारी वही गलती कर रहे है जो पुराणपन्थी आध्यात्मिक श्रद्धालु कर रहे हैं। दोनों समुदाय अतीत की थाती पर जीना चाहते है, यह लोक-प्रवञ्चना और आत्मछलना है।

'यदि मैं कामायनी लिखता?'—शीर्षक लेख में पन्त जी लिखते हैं—"जिस अभेद चैतन्य के लोक में पहुँच कर विश्वजीवन के सुख-दुख-मय सघर्ष से मुक्त होने का सन्देश 'कामायनी' में मिलता है वह मुझे पर्य्याप्त नही लगता। मैं मानव-चेतना का आरोहण करवा कर उसे वही मानस-तट पर अथवा अधिमानसभूमि पर कैलाश-शिखर के सान्निध्य में छोड कर सन्तोष नही करता। वह आनन्द चैतन्य तो है ही और जीवन-सघर्ष से विरक्त होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है, पर यह तो विश्वजीवन की समस्याओ का समाधान नही है। मनुष्य के सामने प्रश्न यह नही है कि वह इडा और श्रद्धा का समन्वय कर वहाँ तक कैसे पहुँचे ...श्रद्धा की सहायता से समरस-स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोकजीवन की ओर नही लौट आये। आने पर भी वहाँ कुछ नही कर सकते। ससार की समस्याओ का यह निदान तो चिरपुरातन, पिष्टपेषित निदान है, किन्तु व्याधि कैसे दूर हो?—क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँच कर, वह भी व्यक्तिगत रूप से?"'

'कामायनी' के सम्बन्ध में पन्त जी का उक्त मन्तव्य उनकी उत्तरकालीन रचनाओ ('स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा') पर भी

लागू होता है। 'कामायनी' के वस्तुजगत में प्रसाद जी ने जैसे बौद्ध और गान्धी-दर्शन का दिग्दर्शन कराया था वैसे ही 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में पन्त जी ने प्रगतिवाद अथवा मार्क्सवाद का युग-दर्शन दिया था। किन्तु जैसे गान्धी के रचनात्मक कार्य्यों के भीतर से प्रसाद जी आत्मदर्शन को नि सृत नही कर सके वैसे ही पन्त जी प्रगतिवाद के भीतर से अरविन्द-दर्शन को प्रस्फुटित नही कर सके, इसीलिए उनकी सहानुभूति 'बौद्धिक सहानुभूति' ही रह गयी। प्रसाद और महादेवी की करुणा तथा पन्त की बौद्धिक सहानुभूति, ये सब निष्फल हैं। इन लोगो का भाव-विलास आध्यात्मिक आँखमिचौनी बन कर रह गया।

काशी,
१६–६–५७

मौलिकता का प्रतिमान

मौलिकता स्वय ऐसा अर्थद्योतक शब्द है कि उसका स्वरूप और स्तर स्वत. स्पष्ट हो जाता है। किसी भी अनुभूति की तरह यह भी सहृदयो-द्वारा संवेदनीय शब्द है। यह शब्द प्रकृति के उद्यान से मनुष्य के आत्मनिर्म्माण के क्षेत्र में आया है। प्रकृति में जिसे हम मूल कहते हैं उसे ही मनुष्य तथा अन्य प्राणियो में स्वयभूत चेतना या अन्त-प्रेरणा कहते हैं। वह मूलभूत चेतना उस कविता या कन्या की तरह है जो उत्पन्न किसी के मनोजगत में होती है और प्रतिफलित किसी के चित्तपटल में होती है। गोस्वामी जी के शब्दो में उसके लिए भी यही कहा जा सकता है—'उपजहिं अनत अनत छवि लहही।'—जो रचना निर्म्माता के मानस में उद्‌भूत होकर वाचक तथा श्रोता के हृदय में प्रादुर्भूत होती है उसमें रहती है—महीरुहो की तरह, उद्भिदो की तरह, उर्म्मियो की तरह आत्मोद्भावना। यही स्वत प्रेरित और अन्त प्रस्फुटित उद्भावना अपनी सजीवता और स्वाभाविकता मे मौलिकता कही जा सकती है। दूमरे शब्दो में स्वीय मृजनशीलता ही मौलिकता है। यह मौलिकता दूव की नन्ही घास में भी हो सकती है, चने के छोटे पौवे में भी हो सकती है, ताड के वडे पेड में भी हो सकती है, जुगजुगाते उडुगन में भी हो सकती है और चमकते

चाँद-सूरज में भी। खद्योत में भी हो सकती है और गीतविहग में भी। मौलिकता तो एक अमाप सजीवता है। उसमें नीचाई-ऊँचाई, छोटाई-बडाई नही होती। वह तो चेतना की तरह ही अन्तर्व्याप्त सूक्ष्म सत्ता है। सूक्ष्म में आयतन नही, स्पन्दन होता है। अतएव, एक बूँद में भी मौलिकता की उतनी ही सम्भावना रहती है जितनी एक सिन्धु मे।

जहाँ तक स्वत सृजनशीलता का सम्बन्ध है वहाँ तक मौलिकता के प्रतिमान या मानदण्ड के निर्णय की आवश्यकता ही नही रह जाती, क्योकि वह स्वयसिद्धा है। किन्तु जब किसी मौलिक रचना से प्रभावित होकर कोई अन्य रचनाकार प्रयत्नशील होता है तब विचारणीय हो जाता है कि उसकी रचना में अपनी विशेषता कितनी है। यही पर मौलिकता के मानदण्ड की आवश्यकता पडती है।

आदि युग से लेकर आज तक विश्व-साहित्य के वाङ्मय में कितनी रचनाएँ आ चुकी हैं। किसी भी सजीव क्रिया का यह स्वभाव होता है कि वह अपने सवेग से, अपने आलोडन-विलोडन से, छोटी-बडी अनेक लहरें उठा जाती है। उससे प्रभावित लहरें भी अपनी प्रेरणा से अन्यान्य लहरो को अग्रसर कर जाती हैं। साहित्य में भी प्रभाव और प्रेरणा का ऐसा ही नैसर्गिक क्रम चलता रहता है, इसीलिए रचनाओ में प्राय सादृश्य मिल जाता है। भिन्न-भिन्न युगो में ही नही, एक ही युग में भी भाव-साम्य, विचार-साम्य, शब्द और शैली का साम्य देखा जा सकता है। सस्कृत, हिन्दी, अग्रेजी, उर्दू सभी भाषाओ में इसका दृष्टान्त सुलभ है।

इस तरह की साम्यमूलक रचनाओ को क्या अमौलिक कहा जायगा ? यदि नही तो उनकी मौलिकता के लिए क्या प्रतिमान हो सकता है ? सरसरी दृष्टि से देखने पर ऐसी रचनाएँ जुडवाँ सन्तानों की तरह एक-सी ही जान पडती हैं किन्तु सजग दृष्टि से देखने पर उनकी गति-मति-यति-रति में अपने-अपने स्पन्दनो और धडकनो का पार्थक्य रहता है। यही स्वतन्त्र सजीवता वह व्यक्तित्त्व है जो समूह में भी रचना को मौलिक स्थान देती है। किन्तु किसी युग या किसी उत्प्रेरक से प्रभावित होने का अभिप्राय यह नही है कि व्यक्ति ग्रामोफोन या लाउड-स्पीकर हो जाय, बल्कि वह मुरली-मनोहर श्यामसुन्दर की ऐसी वशी बन जाय जिसका अपना भी स्वर और लय रहता है। यही उसका स्वारस्य है। जिस साम्य में स्वारस्य नही है वह अमौलिक है, निर्मूल है।

साम्य और स्वारस्य का सफल उदाहरण गोस्वामी तुलसीदास जी का रामचरितमानस है। गोस्वामी जी ने मानस के प्रारम्भ में कहा है—

नानापुराणनिगमागमसम्मत यद् रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुल-
मातनोति ॥

यदि गोस्वामी जी का रामचरितमानस नाना-पुराण निगमागम का सार-सकलन है तो फिर उसके प्रणयन में उनकी क्या मौलिकता है ? उन्हीं का एक शब्द सङ्केत देता है—'स्वान्त सुखाय।' गोस्वामी जी का स्वान्त सुख स्वार्थ का मुख नही है, वह अन्तश्चेतना

से सम्बद्ध है, अत उसमें मौलिक स्वारस्य है। उनका स्वान्त सुख रामचरितमानस में नानापुराण निगममागम का सरस निचोड अथवा नवीन काव्यासव बन गया है।

मानस में गोस्वामी जी ने पूर्ववर्त्ती रचनाओ से भाव और विचार ही स्वायत्त किया है, भाषा और शैली सर्वथा उनकी अपनी है। यदि सग्रह-बुद्धि सचेतन है तो रचनाकार अपने पूर्ववर्त्ती और समकालीन साहित्य को स्वायत्त कर उसे अपनी नवीन कला दे सकता है। हिन्दी में गोस्वामी जी ने पूर्ववर्त्ती कृतविद्यो के भाव और विचार को, अग्रेजी में स्टिवेन्सन ने भाषा और शैली को अपनी सजावट, अपनी कलात्मकता दी है। इसी तरह साहित्य के अन्यान्य अङ्गो में भी दूसरो से प्रभावित होकर साहित्यकार अपनी मौलिकता का आविर्भाव कर सकता है।

पूर्ववर्त्ती तथा समकालीन साहित्यकारों से प्राप्त सामग्री की तभी श्रीवृद्धि हो सकती है जब उत्तराधिकारी में भी व्युत्पादन-शक्ति हो। प्रकृति में इसी शक्ति को उर्व्वरता और साहित्य में मौलिकता कहते है। जैसे उत्पादन के अभाव में पुरानी सम्पत्ति समाप्त हो जाती है वैसे ही मौलिकता के अभाव में केवल परम्परा पर आश्रित साहित्य का ह्रास होने लगता है। जिनमें आत्मोन्मेष होता है वे या तो परम्परा में नवीनता लाकर उसे निर्जीव रूढियो से उबार लेते है या परम्परा को छोड कर साहित्य में, कला में एक नवीन प्रणाली चला देते है। दोनो ही प्रकार के रचनाकारो का प्रयास स्तुत्य है, दोनो के लिए ही प्रतिभा अपेक्षित है। किन्तु पहिले की अपेक्षा दूसरे की प्रतिभा अधिक मौलिक है, रोमैन्टिक है।

जिनमें परम्परा को स्वायत्त करने या नयी प्रणाली के प्रवर्त्तन की क्षमता अथवा प्रतिभा नही होती वे चौर्य्यवृत्ति का आश्रय लेते है। शायद चौंसठ कलाओ में यह भी कोई कला हो। सस्कृत साहित्य में मौलिकता का कोई प्रत्यक्ष विवेचन नही है, किन्तु चौर्य्य-कला के उत्तम, मध्यम, निकृष्ट वर्गीकरण से मौलिकता का मानदण्ड इङ्गित कर दिया गया है। चौर्य्यकला के कलाकारो को मोटे तौर से भ्रामक, कर्पक, चुम्बक, द्रावक कहा गया है। इसके अतिरिक्त एक अध्ययनशील लेखक ने यह श्लोक भी उद्धृत किया है—

उत्पादक कवि कश्चित् कश्चिच्च परिवर्त्तक ।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा सवर्गकोऽपर ॥†

हमारे वर्तमान साहित्य में भ्रामक और कर्पक, आच्छादक और सवर्गक अधिक पैदा होते जा रहे है। जिस युग में शिक्षा आर्थिक अथवा व्यावसायिक हो गयी है उस युग में मौलिकता की अधिक आशा नही करनी चाहिये। फिर भी अभी उन साहित्य-साधको का

† अभिप्राय कोई कवि 'उत्पादक' होता है अर्थात् मौलिक रचना करता है, कोई 'परिवर्त्तक' होता है अर्थात् दूसरो की रचना में परिवर्तन कर अपना बनाता है, कोई 'आच्छादक' होता है अर्थात् दूसरों की रचना को छिपा कर तत्सदृश अपनी रचना का प्रचार करता है, कोइ 'संवर्गक' अर्थात् डाकू होता है जो बेधड़क दूसरों की रचना को अपना कह कर विज्ञापित करता है।

सर्वथा अभाव नही हो गया है जो अपनी प्रतिभा से, अपने अध्ययन-मनन-चिन्तन से माँ भारती के चरणो में अन्त प्रसूत मौलिक रचनाएँ चढा रहे हैं।

शुभमस्तु ।†

काशी,
१३।१।५७

† ओंकार परिषद् (काशी) के वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से पठित।

निराला जी की काव्य-दृष्टि

पण्डित सूर्य्यकान्त त्रिपाठी ('निराला') कवि के अतिरिक्त आलोचक भी हैं। उन्होने अपनी तथा अन्य कवियो की कविताओ पर अनेक आलोचनाएँ लिखी है, जो उनकी भिन्न-भिन्न पुस्तको में सङ्कलित है। निराला जी अपनी पिछली आलोचनाओ से निर्लिप्त नही है, इसीलिए 'चयन' नाम से प्रकाशित अपने निवन्ध-सग्रह में दो शव्द लिख कर उसे उन्होने अङ्गीकार कर लिया है। ऐसी स्थिति में उनके पिछले आलोचनात्मक लेखो पर पुन विचार करना, न केवल उनकी मान्यताओ और तर्कशैली से परिचित होने के लिए वल्कि साहित्य के अपर अध्ययन के लिए भी उपयोगी होगा।

छायावाद के प्रतिनिवि कवियो के वाद साहित्य की कई नयी पीढियाँ वन चुकी है। मुझ-जैसे साहित्य-प्रेमी (जो अवस्था-क्रम से अव प्रौढ हो चुके है) छायावाद की दूसरी पीढी के युग-चिह्न है। उस समय स्वय मैं कितना भावुक था! साहित्य को ही नही, सारी सृष्टि को भावना की दृष्टि से ही देखता था और उसी में सन्तुष्ट हो जाता था। सन्' २६ से लेकर सन्' ३६ तक आँखो के सामने जो सम्मोहन छाया हुआ था, उसके दूर होने में वहुत लम्बा समय लगा। आज जव कि दृष्टिकोण यथार्थवादी हो गया

है, उस एक दशाब्दी में लिखे गये निराला जी के काव्य-सम्बन्धी लेखो को पुन पढने अथवा अतीत का अवलोकन करने का सुअवसर मिला और एक बार फिर छायावाद-युग में पहुँच गया।

निराला जी की एक कविता ('सम्राट अष्टम एडवर्ड के प्रति') की प्रथम पक्ति है—'वीक्षण अराल।' इस पक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे सृष्टि और साहित्य को किस दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि बङ्किम दृष्टि है, तिरछी दृष्टि है। इस दृष्टि की एक अपनी विशेष भाव-मुद्रा है, कलात्मक विशेषता है। किन्तु निराला जी द्वारा की गयी आलोचना में यही दृष्टि यत्र-तत्र 'हास्य-वक्र दृष्टि' (व्यग-दृष्टि) हो गयी है। ऐसे स्थल पर वे कविता के सहज स्वाभाविक भाव को नही ग्रहण कर सके। अप ने असन्तोष से पाठको में भी असन्तोष जगाने लगे। यहाँ कुछ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

वर्षों पहिले (शायद सन्' २७ में) कलकत्ते के मासिक 'सरोज' में निराला जी ने एक लेख लिखा था—'काव्य में सौन्दर्य्य-दर्शन'। उसमें प्रसङ्गवश उन्होने लिखा था—

"कविता के वर्त्तमान उपासको में एक गौरव-पद पण्डित माखनलाल जी चतुर्वेदी को प्राप्त है।

कला की प्रदर्शनी में जाने से पहले उनकी कविता सहृदयता की ओर चली जाती है। जहाँ कला की चकाचौंध नही, आँसुओ का प्रस्रवण जारी रहता है। उदाहरण—

पथरीले ऊँचे टीले हैं रोज नही सीचे जाते
वे नागर न यहाँ आते है जो थे वागीचे आते

झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़ कर वनचर भी खा जाते हैं
शाखामृग कन्धों पर चढ़ कर भीषण शोर मचाते हैं

दीनबन्धु की कृपा, बन्धु
जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुजरना
हम वे ही फलवाले हैं।

× × ×

बाल बिखरे हुए हँस-हँस के गजब ढाते हुए
कन्हैया दीख पड़ा हँसता हुआ आते हुए।

माखनलाल जी की इन मक्खन-सी मुलायम पंक्तियों का लोगों में बड़ा आदर है। अवश्य इन पंक्तियों का और उनकी प्रायः सभी पंक्तियों का दूसरा पार्श्व समालोचक की दृष्टि में बड़ा अन्धकारपूर्ण है; परन्तु मैं उसकी विशेष आलोचना नहीं करना चाहता। उदाहरण के लिए कुछ ही पंक्तियाँ पेश करता हूँ—जो टीले पथरीले हैं उन्हें रोज तो क्या, कभी भी सींचने की जरूरत नहीं। फिर बागीचे में आनेवाले नागर वहाँ नहीं जाते तो विशेष बुद्धिमत्ता ही प्रकट करते हैं। नागरों के लिए टीले पर क्या रखा है? क्यों जायँ? बात यह है कि सब पंक्तियाँ असम्बद्ध हैं—झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़ कर वनचर भी खा जाते हैं। यहाँ टीले और नागर दोनों गये, वनचर आये। वनचर के बाद 'भी' कहता है कि वनचर तो खाते ही हैं, किन्तु खेचर, निशाचर और न जाने

कितने चर खा जाते हैं। अब इन तमाम वाक्यो का सम्बन्ध बतलाइये कि एक-दूसरे से क्या है—कला के विचार से कुछ नही।"

माखनलाल जी की उक्त जिन पक्तियो पर निराला जी को आपत्ति है, कदाचित् तुलसी के इस दोहे को पढ कर अभिप्राय स्पष्ट हो जाय—

तुलसी बिरवा बाग के
सीचत ही कुम्हलायें।
राम भरोसे जे रहें
परबत पै हरियायें॥

इसी प्रकार जगल में वे पौधे जिनके लिए न तो कोमल भूमि है, न कोई सिंचाई-गोडाई ही होती है, पथरीले-ऊँचे-शुष्क टीलो पर आप ही पल्लवित-पुष्पित हो उठते हैं। क्योकर?—विश्व-पालक दीनबन्धु की कृपा से—

दीनबन्धु की कृपा, बन्धु
जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं। †

† आदरणीय प० माखनलाल चतुर्वेदी ने अब जीवन के सत्तरवें वर्ष में पदार्पण किया है। इन वृद्ध चरणो में पुन तारुण्य की पद-चाप सुनायी पडती है। इधर उनके जो गीत गुञ्जरित हो रहे हैं उनमें भाव और कला दोनों ही दृष्टि से बडी सरसता है। कभी उनकी कविताओ में तारुण्य का ओज था, अब तारुण्य का माधुर्य है। इस वृद्धावस्था में कहाँ से गीतों का यह तरुण निर्झर फूट पडा है। सुधि की कौन सी कोकिल कूक उठी है!

कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त का 'पल्लव' प्रकाशित होने पर निराला जी ने एक विस्तृत लेख लिखा था—'पन्त जी और पल्लव।' उस लेख में भी उन्होंने पन्त जी की अनेक पक्तियो पर व्यग्य-विद्रूप किया था। लिखा था—

"'पल्लव'-पुस्तक में उनकी कविता 'पल्लव'—शीर्षक पद्य से शुरू होती है—श्री गणेश इस तरह होता है—

अरे, ये पल्लव-बाल।
सजा सुमनो के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार,
अभी तो है ये नवल प्रवाल,
नही छूटी तरु-डाल,
विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर-प्रवाल।

पहले इन दोनो पक्तियो को देखिये—

अभी तो है ये नवल-प्रवाल
हिलाते अधर-प्रवाल।

'प्रवाल'—शब्द दो बार आया है, एक बार तो पल्लवो को ही उन्होंने नवल-प्रवाल कहा, फिर पल्लवो के अधरो में प्रवाल जड दिये। अर्थ हुआ, प्रवाल-पल्लव अपने अधर-प्रवालो को हिला रहे है।—इस तरह उपमान-उपमेय का निर्वाह सार्थक नही हो सका। दूसरे 'हिलाते अधर-प्रवाल' का भाव-चित्र बडा ही विचित्र है। मैं जब इसे पढता हूँ, मुझे 'पजाब थियेट्रिकल्स' के उस 'जोकर' की

याद आती है जो बडे-बडे अक्षरो के साइनबोर्ड के नीचे एक ऊँची टेबिल पर कार्नेट और ड्रम की ताल पर थिरकता हुआ दर्शको को देख-देख कर मुँह बनाता और अपने पौडर-चर्चित चेहरे के मुक्ताकार तवक को अपनी विचित्र मुखभङ्गियो द्वारा हिलाता रहता है। इस पद्य के साथ उस 'जोकर' का मेरी प्रकृति में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है जिसका भूलना मेरे लिए असम्भव हो रहा है।

पन्त जी सोचें, उन्ही के सामने यदि कोई खडा होकर अधर-प्रवाल हिलावे तो हँसेंगे या नही। इससे हास्य के सिवा कोई सौन्दर्य्य तो नही मिल सकता।

यो दो बार प्रवाल का आना ही उनकी कविता में दोपकर हो गया है, परन्तु यदि पहला प्रवाल छोड दिया जाय तो दूसरा प्रवाल भी ऐसा नही कि भाव-चित्र का अच्छा निवाह कर सके।

यह सारा दोप 'हिलाते' का है। 'हिलाते' का प्रयोग ऐसे स्थलो में अच्छा नही होता। दो वाक्य देखिये—

'वे अधर-प्रवाल हिला रहे हैं'

'उनके अधर-प्रवाल हिल रहे हैं'

दूसरे वाक्य में सौन्दर्य्य पहले वाक्य से कितना वढ गया है।"

निराला जी को 'प्रवाल'-शब्द दो बार प्रयुक्त होने पर जो निरर्थकता दिखलायी पडी उसका कारण यह कि उन्होने दोनो को एक ही अर्थ में ले लिया है। पहला प्रवाल ('अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल') नवल किसलय के अर्थ में है, अर्थात् ये अभी नये शिशु

है। दूसरा प्रवाल ('हिलाते अधर-प्रवाल') अधरो की अरुणाभा सूचित करता है।

प्रवाल के दोनो अर्थ पर ध्यान न दे पाने के कारण निराला जी 'हिलाते'-शब्द का मर्म्मस्पर्श नही कर सके। यदि दृश्य-चित्रण अभीष्ट होता तो उनका वाक्य '('हिल रहे हैं') सार्थक होता; किन्तु 'हिलाते' में केवल दृश्य नही, एक सचेष्ट क्रिया है। इस शब्द की मौन भाव-व्यञ्जकता देखिये। कवि कहता है—

विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल !

'पल्लव-बाल' निरे शिशु है, 'नही छूटी तरु-डाल'। जिस विश्व में आये हैं उसे विस्मय की दृष्टि से देख रहे हैं। अपने विस्मय को व्यक्त करना चाहते हैं किन्तु इतने अयाने है कि अभी उनका कण्ठ नही खुला है, तुतला भी नही सकते। अधर हिला कर कुछ कहने का प्रयास करते है, किन्तु वाणी के अभाव मे कह नही पाते। 'हिलाते अधर-प्रवाल' में उनकी वाचिक असमर्थता है। यदि यहाँ 'हिल रहे ह' होता तो केवल बोलने की इच्छा ही व्यक्त होती, उस विस्मयाभिभूत हृदयावेग का परिचय नही मिलता जो उनके बोलने के आयास (अधर हिलाने) में व्यक्त होता है।

पन्त ने एक अन्य कविता में 'हिल'-शब्द का भी प्रयोग किया है। यथा—

गूढ सङ्केतो में हिल पात
कह रहे अस्फुट बात।

—('[illegible]')

ये 'पात' 'पल्लव-बाल' नही हैं, इन्हें बोलने का प्रयास नही करना पडता, इनमें मर्म्मर-ध्वनि आ गयी है, अतएव, बोल रहे हैं, 'अस्फुट बात' कह रहे हैं। अब निराला जी चाहे तो अपनी प्रणाली से यह तर्क पेश कर सकते हैं कि 'पात' जब बोल रहे हैं तब बात 'अस्फुट' कैसे है ? यही प्रश्न छायावाद के कवियो और उनकी कविता के प्रति भी किया जा सकता है। पन्त ने 'वीणा' में कहा है—

यह अति अस्फुट ध्वन्यात्मक है
बिना व्याकरण, बिना विचार।

'गूढ सङ्केत' और 'अस्फुट बात' भाव और कला दोनो दृष्टि से छायावाद की विशेषता है।

पन्त को काव्यप्रेरणा प्रकृति से मिली है। अपने सगुण-रूप में ही प्रकृति उन्हें अतीन्द्रिय अनुभूति की ओर भी रहस्योन्मुख कर देती है—

विपिन-रहस्यो की आख्यान!
गूढ बात है कुछ कल-कल!

—('पल्लव' 'निर्झरी')

'छाया' के माध्यम से मानो पन्त प्रकृति से ही कहते हैं—

किस रहस्य-मय अभिनय की तुम
सजनि! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का ससार?

ऐ अवाक् निर्जन की भारति!
कम्पित अधरों से अनजान
मर्म्म-मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान?

छाया की तरह ही पन्त की प्रकृति में सभी लौकिक-अलौकिक भाव समाहित हैं। जो 'बच्चों के तुतले-भय-सी' है, वही ऋषियों के गम्भीर 'हृदय-सी' भी है।

निराला जी ने पन्त के प्रकृति-प्रेम पर भी दृष्टिपात किया है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया;
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को?

—('पल्लव' 'मोह')

निराला जी लिखते हैं—"कवि बाला के बाल-जाल से छूट कर 'द्रुमों की मृदु छाया' में तथा 'प्रकृति की माया' में जीवित रहना चाहता है। यहाँ भी कला से विपरीत रति कराई गई है, जो निहायत अस्वाभाविक हो गई है। अगर 'बाला' के 'बाल-जाल' से छूटने का निश्चय है तो छूट कर जहाँ ठहरिये, उसे दिखलाइये कि वह स्वभावत बाला के बाल-जाल से ज्यादा आकर्षक है। अगर छूटे तो 'द्रुमों की मृदु छाया' में क्या करने गये? प्रकृति से माया जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? प्रकृति में ही रहे तो

उत्कृष्ट को छोड कर निकृष्ट को क्यो ग्रहण किया ?—प्रकृति में 'बाला' से मधुर और क्या होगा ?—'बाला' को छोड कर प्रकृति से परे जाते तो ज़रूर आकर्षक बन जाता। यहाँ कला का पतन हुआ है, उसके स्वाभाविक विकास की प्रतिकूलता का दोष आ गया है। यदि कोई कहे कि इस तरह एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड कर कवि अपने को मिला देना चाहता है, तो उत्तर यह है कि उस तरह उस प्रकृति को बाला के बाल-जाल से स्वभावत मधुर होना चाहिये। जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हो वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमो की शीतल छाया कब पसन्द होगी ? इस कविता के अन्यान्य पद्य भी इसी तरह कला को पतन की ओर ले जाते है।"—इस लम्बे मन्तव्य में निराला जी ने एक ही बात को बार-बार दुहराया है—'उत्कृष्ट को छोड कर निकृष्ट को क्यो ग्रहण किया ?'—'यहाँ कला का पतन हुआ है।' उनके मन्तव्य में उनकी वही तर्क-प्रणाली है जो माखनलाल जी की पक्तियो के सम्बन्ध में है—"बागीचे में आने वाले नागर वहाँ नही जाते तो विशेष बुद्धिमत्ता ही प्रकट करते हैं। नागरो के लिए टीले पर क्या रक्खा है ?" अब पन्त की पक्ति पर उनका वाक्य देखिये—"अगर छूटे तो 'द्रुमो की मृदु छाया में' क्या करने गये ?

जहाँ बाला के बाल-जाल मिलते हो वहाँ मनुष्य के स्वभाव को द्रुमो की शीतल छाया कब पसन्द आयेगी ?" इस प्रश्न का जो उत्तर हो सकता है उसे निराला जी जान कर भी अस्वीकार कर देते है—"एक विशाल प्रकृति में बाला के बाल-जाल को छोड कर

कवि अपने को मिला देना चाहता है ..।" अपने 'पञ्चवटी-प्रसङ्ग' में निराला जी ने सीता और राम के सवाद में भी इसी विशाल प्रकृति का उल्लेख किया है—

छोटे-से घर की लघु सीमा में
बँधे है क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये,
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।
प्रेम की महोर्म्मि-माला तोड देती क्षुद्र ठाट,
जिसमें ससारियो के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण-सम वह जाते है।
राजभवन राजस प्रभाव भरे
रम्योद्यान से भी मुझे
बढ कर प्रतीत होती
वनस्थली चारुचित्रा।

निराला जी की इन पक्तियो मे पन्त की उक्त पक्तियो की व्याख्या हो जाती है। पन्त ने इतनी बातें नही कही है, क्योंकि उनकी कविता में द्विवेदी-युग के पद्यो का-ना इतिवृत्त नही है। उनका अभिप्राय साङ्केतिक अथवा ध्वन्यात्मक है, उसमे कला राग-व्यञ्जक है।

निराला जी का एतराज यह है कि "प्रकृति में ही रहे तो उत्कृष्ट को छोड कर निकृष्ट को क्यो ग्रहण किया ?"—क्या

उत्कृष्ट है और क्या निकृष्ट है, इसका निर्णय तो भाव के क्षेत्रफल पर निर्भर है। पन्त मानुषी शोभा से प्रकृति की शोभा की ओर उन्मुख होना चाहते हैं, इस तरह एक विस्तृत क्षेत्र की ओर जाना चाहते हैं। यह प्रयास निकृष्ट कैसे कहा जा सकता है ? निराला जी पन्त की प्रकृति में बाला के वालजाल की अपेक्षा उत्कृष्टता नही पाते। तो फिर वे उत्कृष्ट किसे मानते हैं ? कहते हैं—"प्रकृति में बाला से मधुर क्या होगा ?"—क्या 'बाला' ही सम्पूर्ण प्रकृति है ? प्रकृति को इस सीमित दृष्टि से देखने के कारण ही निराला जी सुझाव देते हैं—"बाला को छोड़ कर प्रकृति से परे जाते तो (भाव) जरूर आकर्षक बन जाता।"

'प्रकृति से परे' उत्कृष्ट भाव क्या है ?—

कभी उडते पत्तो के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार
बढा कर लहरो से लघु हाथ
बुलाते हैं मुझको उस पार।

—('पल्लव' 'मुसकान')

इन पक्तियो के सम्बन्ध में निराला जी लिखते हैं—"यहाँ कला का विकास हद दर्जे को पहुँच गया है। पहले जिन बातों पर एतराज था, यहाँ वही बातें विकसित स्वरूप धारण करती हैं। उडते पत्तो को देख कर सुकुमार या प्रियतम की याद आना निहायत स्वाभाविक, निहायत आकर्षक और अत्यन्त सरस है, इतना सरस कि जैसे प्रियतम ही मिल गये हो। फिर लहरो के छोटे-छोटे हाथो

के इशारे से जब वही प्रियतम अपनी नवोढा प्रेयसी को उस पार बुलाते है तब उनकी प्रेयसी के साथ कविता भी असीम में विलीन हो जाती है। प्रियतम की याद आने के बाद लहरो को देख कर प्रिय का ही हाथ बढा कर बुलाने का इशारा समझना बडा ही मधुर हुआ है--फिर बुलाना भी उस पार। यह अभिव्यक्ति सौदर्य्य के साथ असीम की ओर हुई है, अतएव, निर्दोष और सहृदय-सवेद्य है।"

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि निराला जी उत्कृष्ट भाव उसे मानते है जिसकी परिणति असीम में होती है, और [यह परिणति (अभिव्यक्ति) ही उत्कृष्ट कला है। उनका यह असीम अलौकिक अथवा आध्यात्मिक है, इसे ही वे 'अज्ञात अदृश्य' और 'अरूप' भी कहते है। 'प्रबन्ध-पद्य' में उनका एक लेख है--'काव्य में रूप और अरूप।' उसमे वे लिखते है—"काव्य में साहित्य के हृदय को दिगन्त-व्याप्त करने के लिए विराट रूपो की प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपो के प्रति यहाँ कोई द्वेष नही दिखलाया जा रहा है। रूप की सार्थक लघु-विराट कल्पनाएँ ससार के सुन्दरतम रगो से जिस तरह अङ्कित हो, उसी तरह रूप तथा भावनाओ का अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष।"

निराला जी अपनी रुचि से भाव को जो निष्कर्ष और कला को जो परिणति देना चाहते है वह भी अपने स्थान पर सार्थक है। किन्तु एकमात्र वही काव्य सत्य नही है। कला को उसी में पर्य्यवसित करना किसी सोद्देश्य रचना की तरह कुण्ठित सङ्कुचित कर

देना है। निराला जी ने एक लेख में कहा है—"सूक्तियाँ-उपदेश मैंने वहुत कम लिखे हैं, प्राय नही, केवल चित्रण किया है।" 'केवल चित्रण', आध्यात्मिक या लौकिक किसी भी रूप में कला की यही तो उत्कृष्टता या सार्थकता है। किन्तु निराला जी सूक्तियाँ अथवा उपदेश न लिखते हुए भी कविता और कला को अपने एकान्त-सिद्धान्त से उपदेश की तरह ही एकाङ्गी कर देते हैं। जैसा कि निराला जी ने 'काव्य में रूप और अरूप' शीर्षक लेख में कहा है—"रूप की सार्थक लघु-विराट कल्पनाएँ ससार के सुन्दरतम ऱगो से जिस तरह अङ्कित हो–" उस तरह सभी रुचियो को कलाकारिता के लिए अवसर मिलना चाहिये। इस दृष्टि से रूपकारो का भी एक अपना निर्म्माण है।

सगुण कवियो ने अज्ञात अदृश्य, अरूप, निराकार को स्वीकार करके भी उसे साकार में ही रूपायित किया है। निराला जी जिस तरह अरूप के आग्रही है उस तरह सगुण कवि रूप के आग्रही या उपासक हैं। उनके लिए सीमा में भी असीम चेतन है। उनका रूप-जगत वैज्ञानिको का जड भौतिक जगत नही, स्पन्दनशील प्राणियो का जीवित लोक है। रवीन्द्र और पन्त भी उन्ही सगण कंवियो के आधुनिक प्रतिनिधि हैं। किसी कविता में रवीन्द्रनाथ नें कहा है, असीम भी ससीम में मिलने के लिए लालायित रहता है। पन्त ने तो रूप-सृष्टि के लिए विशेप उद्‌बोधन दिया है। 'गुञ्जन' की ये पक्तियाँ—(जो अभिव्यक्ति की दृष्टि से निराला जी को असङ्गत लगती हैं) पन्त के रूप-प्रेम को सूचित करती हैं—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त वन,
निज अरूप मे भर स्वरूप मन।
मूर्त्तिमान बन निर्धन!
गल रे गल निष्ठुर मन!

अरूप, असीम, उन्मुक्त ईश्वर को उन्होने सीमा में, बन्धन में, जीवन्त सृष्टि में ही महिमान्वित किया है—

सीमाओ में ही तुम असीम,
बन्धन-नियमो में मुक्ति सतत,
बहु रूपो मे चिर एक रूप,
संघर्षो में ही शान्ति महत्।

. .

तुम बाधा-विघ्नो में हो बल,
जीवन के तम में चिर भास्वर,
असफलताओ में इष्ट सिद्धि
तुम जीवो मे ही हो ईश्वर।

—('युगवाली')

अरूप, असीम, अध्यात्म, निराला जी की 'हॉबी' जान पड़ता है। 'जुही की कली' जैसी सर्वथा शृङ्गारिक कविता में भी उन्होने भाव की परिणति प्रज्ञा में दिखलायी है। वह कविता इसके बिना भी अपना सहज स्वाभाविक रस-सञ्चार करती है। भाव और कला, दोनो ही दृष्टि से ओजवती और सुंदर रचना है।

निराला जी को जब अन्य कवियों की रचनाओ से सन्तोष नही हुआ तब उन्होंने निर्दोष रचना के रूप में अपनी कविताओ को उपस्थित करने के लिए 'पन्त जी और पल्लव' के बाद फिर एक विस्तृत लेख लिखा—'मेरे गीत और कला।' वह लेख तुलनात्मक है। उस लेख का विशेष उल्लेख करने के पहिले यहाँ निराला जी के एकाध अन्य लेखो से भी उनका तुलनात्मक दृष्टिकोण दिया जाता है। 'चयन' में एक लेख है—'काव्य-साहित्य।' इसमें निराला जी ने एक स्थल पर शेक्सपियर और तुलसीदास की पक्तियो की समीक्षा की है। शेक्सपियर की कविता का भावाशय—

'मेरी आँखो ने चित्रकार का काम किया। तुम्हारे सौन्दर्य्य की तसवीर मेरे हृदय की मेज पर रख दी। मेरा शरीर उसका साँचा है, जिसके अन्दर वह रखी है। शीशे के अन्दर देख पडती हुई-सी वह सर्वश्रेष्ठ कलाकार की कला है, क्योंकि उस चित्रकार के भीतर से तुम अवश्य उसकी कुशलता प्रत्यक्ष कर लोगी। तुम समझ लोगी, कहाँ तुम्हारी सच्ची मूर्त्ति खीची हुई रखी है। वह तसवीर मेरे हृदय की दूकान में निस्तब्ध लटक रही है, जिसे देखने के झरोखे तुम्हारी आँखें है। अब देखो कि आंखो ने आँखों को कैसा बदला दिया। मेरी आंखो ने तुम्हारी तसवीर खीच ली, और तुम्हारी आँखें मेरे लिए हृदय की खिडकियाँ है।"

निराला जी इन पक्तियो पर प्रसन्न होकर कहते हैं—'कितना

"लोचन-मग रामहिं उर आनी ।
दीन्हें पलक-कपाट सयानी ।।

—में स्नेह का प्रकाश तो है, पर इतना बडा सौन्दर्य्य अवश्य नही। क्या इस तरह के भाव को, यदि इसके दो-एक कारण—जैसे मेज का उल्लेख, हटा दिये जायँ तो क्या किसी भारतीय के लिए अपनी चीज कहने में असुविधा हो सकती है ?"

पहिली बात यह कि कला की दृष्टि से शेक्सपियर की उक्त पंक्तियो में चित्र का तारतम्य नही है—हृदय कही मेज है, कही दूकान है। प्रेमिका की आँखें कही झरोखे ह, कही खिड़कियाँ है। मेज, दूकान, झरोखे, खिडकियाँ, ये सब पाश्चात्य जीवन के अनुरूप हो सकती है। इन्हें हटा देने पर भी भारतीय जीवन के अनुरूप कुछ नही रह जाता, सच तो यह कि काव्यत्व ही लुप्त हो जाता है। इन पंक्तियो में केवल वाग्जाल है, सहज स्वभाव नही। तुलसीदास की पक्तियो में भारतीय हृदय है। उनमें प्रदर्शन (विडो शो) नही, प्रेम का सयमन है, मौन गोपन है, अन्त स्पन्दन है। दूकान मे बाजारूपन है, 'पलक-कपाट' मे घरेलूपन है। रूपक में कृत्रिमता नही, नैसर्गिक सरलता है।

'मेरे गीत और कला' में भी निराला जी ने यथाप्रसङ्ग कई पुराने कवियो को स्मरण किया है—जयदेव, कालिदास, तुलसीदास, कबीरदास। कबीर का यह दोहा प्रसिद्ध है—

लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ।।

निराला जी द्वारा इसकी व्याख्या और समीक्षा देखिये—"कबीर की प्रिया लाल की लाली से चारो तरफ लाल है, देखती है, लाली देखने जाती है तो वह भी लाल हो जाती है—पक जाती है, गोट की तरह। पर, जाती कैसे है?—'लाली देखन मैं गई' यह पूर्वोक्ति का विरोध है, जब कि 'जित देखो तित लाल है,' तब चलने की गुंजाइश कहाँ?—वह तो वहाँ भी ठहरी हुई लाली देख सकती है। दूसरा दोप यह कि लाल की लाली देखने वह क्यो गई, जब कि लाल को वह जानती है। लाल प्रिय है या लाली? कोई मेरा प्रियजन मेरे यहाँ आवेगा तो मुझसे मिलेगा या मेरे लोटे से?"

कबीर की उक्त पक्तियो का सन्दर्भ नेपथ्य में ओझल है, इसीलिए निराला जी को इतनी उलझन हो गयी। अन्वेषिका जिज्ञासु है। पहिले उसे 'लाल' का कोई परिचय नही था, उसके सम्बन्ध में केवल सुनती थी। जिज्ञासा और अन्वेपण से जब सुना हुआ प्रत्यक्ष हो गया तब उसने उद्घोपणा की—'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।' प्रमाण के लिए वह स्वय अपने को उपस्थित करती है—'लाली देखन मै गई, मैं भी हो गई लाल।'

'मेरे गीत और कला' में निराला जी ने अन्य कवियो के साथ कला के विवेचन के लिए पन्त जी को भी साथ लिया है। उनके शब्द—"मैं पन्त जी का उल्लेख न करता। पर करने पर विवेचन और साफ समझ में आवेगा, इसलिए करता हूँ।"

इस लेख में काव्य का विवेचन उन्होने कला की वर्णमाला से आरम्भ किया है।

निराला जी कहते है—"ब्रजभापा में भापाजन्य जातीय जीवन था जो वुद्ध के वाद के सस्कृत कवि और दार्शनिको में नही। इसलिए यह निर्विवाद है कि ब्रजभापा के वाद की जो भापा होगी उसमें ब्रजभापा के कुछ चिह्न जीवन की शक्ति या रूप के तौर पर अवश्य होगे। खडीवोली का उत्थान ब्रजभापा के पश्चात् होता है, इसलिए ब्रजभापा के कुछ जीवन-चिह्न उसमें रहने जरूरी है। हम देखते हैं कि ब्रजभापा में 'श स' दोनो 'स' वन गये हैं, 'प' 'ख' हो गया है, 'ण न' 'न' में ही आ गये है, वहुत जगह 'व' 'व' वन गया है। खडीवोली में शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान रहने पर भी वर्णो की यह अशुद्धि ही जैसे अच्छी लगती है; इसकी विशेपता हम अच्छी तरह देख लेते है जव कोई उर्दू मिली चलती जवान लिखता है, वस 'वश' की जगह, वेवस 'विवश' की जगह, किरन 'किरण' की जगह आते है। . कुछ हो, यह मालूम हो जाता है कि वर्णो में 'श, ण, व' खडी वोली के प्राणो को खटकते हैं।"

कालिदास और जयदेव का उदाहरण देकर निराला जी ने सिद्ध किया है कि वर्ण-सङ्गीत की दृष्टि से पन्त जी का स्कूल हिन्दी का 'श, ण, व, ल'-स्कूल है जिसके प्रमुख कवि कालिदास हैं, निराला जी का स्कूल 'स, म, व, ल'-स्कूल है, जिसके श्रेष्ठ कवि जयदेव हैं। किन्तु जयदेव में पद-लालित्य के अतिरिक्त कालिदास से अधिक और क्या है? 'स, म, व, ल' में ब्रजभापा

का माधुर्य्य हो सकता है, खडीबोली का ओज नही, वह तो 'श, ण, व, ल' में ही है। यह आश्चर्य्य है कि निराला जी स्वय ओजस्वी कवि होते हुए 'स, म, व, ल' में शक्ति देखते ह। खडी-बोली व्रजभाषा के जीवन-चिह्न वर्ण वैसे ही ले सकती है जैसे गङ्गा यमुना का पानी। कही-कही व्रजभाषा का रङ्ग भी झलक सकता है, किन्तु प्राधान्य खडीबोली के सवेग का ही रहेगा। यह ठीक है कि वर्णो से भाषा का व्यक्तित्व गठित होता है, किन्तु उसका माधुर्य्य और ओज वर्णो पर ही निर्भर नही, प्रयोक्ता की रुचि और प्रयोग-कौशल पर भी निर्भर है। यही कारण है कि खडीबोली का 'श, ण, व, ल' लेकर भी पन्त ने काव्य में माधुर्य्य दिया और व्रजभाषा का 'स, म, ब, ल' लेकर निराला जी ने ओज दिया। केवल माधुर्य्य के लिए नही, चित्र और सङ्गीत की दृष्टि से पन्त ने भी खडीबोली के वर्णो को यत्र-तत्र ब्रजभाषा का कोमल रूप दे दिया है। 'पल्लव' के विज्ञापन में उन्होने इसका सङ्केत किया है—

"कहीं-कही अन्त्यानुप्रास मिलाने के लिए आवश्यकतानसार 'कण', 'गण', 'मरण' आदि णकारान्त शब्दो को नकारान्त कर दिया है। यथा—

'एक छवि के असख्य उडगन'

एक ही सब में स्पन्दन'—यहाँ दूसरा चरण पहले से छोटा होने के कारण 'उडगन' के 'न' पर दीर्घकाल तक स्वर ठहरता है, अत 'न' के स्थान पर 'ण' रख देने से कर्कशता आ जाती है। पुन;

'अचिर में चिर का अन्वेपन'

विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन'—में अन्वेपन के स्थान पर 'अन्वेपण' कर देने से दूसरा चरण फीका पड जाता है।

ऐसे ही 'कर दे मन्त्रमुग्ध नत फन' में 'फण' का उद्धत 'ण' मन्त्रमुग्ध हो विनम्र 'न' वन जाता है, और 'छेड़ स्वर शस्त्रो की झङ्कार' इस चरण को 'झङ्कार' 'झीगुरो की झीनी झनकार' में 'झीनी' वन कर 'झनकार', इसी प्रकार अन्यत्र भी।"

वर्ण-सङ्गीत के वाद निराला जी ने रस, अलङ्कार और ध्वनि को दृष्टि में रख कर कहा है—"कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलङ्कार या ध्वनि की सुन्दरता नही, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य्य की पूर्ण सीमा है।"—निराला जी प्राय काव्य में सौन्दर्य्य का उल्लेख करते है। यह सौन्दर्य्य क्या है? एक लेख में सौन्दर्य्य के आदर्श कवि के रूप में चण्डिदास को उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है—"चण्डिदास में भावना के भीतर से कही-कही सौन्दर्य्य-पर्य्यवेक्षण आया है, और निवाह उसी तरह वडा ही साफ उतरा है। भावना-सिद्ध चण्डिदास में आवेश के कारण अश्लीलता नही आने पाई। उनकी पक्तियाँ वडी सहृदय है। वे प्यार करती हैं, किन्तु अङ्ग नही देखती, और जब अङ्ग देखती है, तब आवेश में तन्मय होकर निष्पाप दृष्टि से।"

इन वक्तव्य से स्पष्ट नही होता कि निराला जी सौन्दर्य्य किसे कहते है? क्या अश्लीलता-रहित निष्पाप प्रेम सौन्दर्य्य है? यह तो एक भावानुराग है जो अङ्ग में नही, अन्तरङ्ग में है। किन्तु निराला जी को जो सौन्दर्य्य अभीष्ट है वह भावना का नही जान

पड़ता, क्योंकि वे 'भावना के भीतर से सौन्दर्य्य-पर्य्यवेक्षण' चाहते हैं अर्थात् उनके लिए भावना माध्यम है, सौन्दर्य्य उससे कोई भिन्न तत्त्व है। ऐसा जान पड़ता है कि सौन्दर्य्य को वे कलात्मक रूप में देखते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा है—"कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलङ्कार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य्य की पूर्ण सीमा है।"—इस दृष्टि से कला की सर्वाङ्गीणता ही निराला जी के लिए काव्य मे सौन्दर्य्य है। 'मेरे गीत और कला' में उन्होंने अपने अभिप्राय को इन शब्दों में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—"पूरे अङ्गो की सत्रह साल की सुन्दरी की आँखो की पहचान की तरह—देह की क्षीणता-पीनता में तरङ्ग-सी उतरती चढ़ती हुई, भिन्न वर्णो की बनी वाणी में खुल कर क्रमश मन्द मधुरतर होकर लीन होती हुई—जैसे, बीज से पुष्प की पूरी कला विकसित नहीं होती, न अङ्कुर से, न डाल से, न पौदे से, जड़ से लेकर तना, डाल, पल्लव और फूल के रग-रेणु-गन्ध तक फल की पूरी कला के लिए जरूरी है, वैसे ही काव्य की कला के लिए काव्य के सभी लक्षण, और जिस तरह फूलो की सुगन्ध पेड़ के दृश्य समस्त भाग को ढँके हुए अपने सौन्दर्य्य-तत्त्व के भीतर रखती है—पेड़ की काष्ठ-निष्ठुरता दिखती हुई भी छिपी रहती है, उसी तरह काव्यकला आवश्यक अशोभन वर्ण-सम्प्रदाय को अपनी मनोज्ञता के भीतर डाली रहती है। तने, डाल, पत्ते और फूल के रगो के भेद और उनके चढ़ाव-उतार की तरह काव्य की भी प्रकाशन-धारा है, इसकी त्रुटि कला के एक अश की त्रुटि

होगी। इस प्रकार कला का मर्म्म स्थूल रूप से सामने आ जाता है।"

तो, निराला जी काव्य मे जिस सौन्दर्य्य को चाहते है उसके अन्तरङ्ग (स्पन्दन) में भावना है और वहिरङ्ग (प्रकाशन) में कला। 'मेरे गीत और कला' में उन्होने इसी वहिरङ्ग का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। वे कहते है—"मुक्त छन्द की रचनाओ में मैंने भाव के साथ रूप-सौन्दर्य्य* पर ध्यान रखा है, वल्कि कहना चाहिये, ऐसा स्वभावत हुआ, नही तो मुक्तछन्द न लिखा जाता, वहाँ कृत्रिमता नही चल सकती।"

निराला जी ने दो तरह के मुक्त वृत्त लिखे है। एक को वे मुक्त छन्द कहते है, दूसरे को मुक्त गीत। उनके शब्द—"हिन्दी-काव्य की मुक्ति के मुझे दो उपाय मालूम दिये, एक वर्णवृत्त में, दूसरा मात्रावृत्त में। 'जुही की कली' की वर्णवृत्त वाली ज़मीन है। इसमें अन्त्यानुप्रास नही। यह गाई नही जाती। इससे पढने की कला व्यक्त होती है। 'परिमल' के तीसरे खण्ड में इस तरह की रचनाएँ है। इनके छन्द को मै मुक्त छन्द कहता हूँ। दूसरी मात्रावृत्त वाली रचनाएँ 'परिमल' के दूसरे खण्ड में है। इनमें लडियाँ असमान है, पर अन्त्यानुप्रास है। आधार मात्रिक होने के कारण, ये गाई जा सकती है। पर सङ्गीत अँगरेजी ढग का है। इस गति को मै मुक्तगीत कहता हूँ।"

निराला जी मुक्तवृत्त के रूप में एक ओर कला को मुक्त

* कला या अभिव्यक्ति का सौन्दर्य।

रूप देते हैं, दूसरी ओर भाव को कला के परिवृत्त या आयतन (साङ्गरूपक) से बांधते हैं। कविता को मुक्त पञ्छी की तरह मुक्त आकाश में उडने नही देते, भाव को निवन्धित कर देते हैं। कला की स्वतन्त्रता उन्होने भाषा और छन्द के लिए ली है, किन्तु भाव की स्वतन्त्रता के लिए मुक्तकण्ठ की तरह क्या मुक्त हृदय की भी आवश्यकता नही है ?

पन्त ने मुक्त छन्द नही, मुक्त भाव दिया है। यद्यपि 'पल्लव' के प्रवेश में उन्होने अपनी रचनाओ से भी मुक्तछन्द का उदाहरण दिया है, तथापि उनकी कविता का रूप यह है—

> बाल्य सरिता के कूलो से
> खेलती थी तरङ्ग-सी नित।

सरिता के कूलो की तरह प्रशस्त होकर भी उनके छन्द मर्य्यादित हैं, और भाव, तरङ्ग की तरह स्वतन्त्र।

अपनी कविताओ का उद्धरण देकर निराला जी ने लिखा है—"इनकी कला इनके सम्पूर्ण रूप में है, खण्ड में नही।" पन्त की पक्तियो के सम्वन्ध में उन्होने लिखा है—उनकी कला "खण्डार्थ में है, पूर्णार्थ में नही। खण्डार्थ में पन्त जी की कला वहुत वन पडी है।" पूर्णार्थ से निराला जी का अभिप्राय एक भाव की साद्यन्त सम्वद्धता अथवा आद्योपान्त तारतम्यता से है, खण्डार्थ से उनका अभिप्राय भाव के प्रकीर्ण चित्र अथवा आंशिक भावचित्र से है।

निराला जी का पूर्णार्थ साङ्ग रूपक है। इसके द्वारा कविता एक भाव-प्रवन्ध वन जाती है। मुक्तछन्द के द्वारा वे काव्यकला

में पुरानी परिपाटी से आगे गये, किन्तु भाव के मूर्त्त विधान अथवा आलङ्कारिक प्रणाली में उस परिपाटी से आगे नही जा सके। निराला जी कहते हैं—पन्त के प्रशसको की दृष्टि "उनके खण्ड रूपो में ही बँध गयी है। वे प्रशसक इस प्रकार की कला के देखने के आदी भी न थे। पहले से छन्द, दोहे, चौपाइयो की जो परिपाटी थी, वह इस कला के अनुरूप न थी।" नि सन्देह निराला जी ने नये छन्दो में पुरानी परिपाटी के रूपक का क्रम बनाये रक्खा है, उसे पुनर्जीवित किया है।

ठीक अर्थ में पन्त के भाव-चित्र प्रगीत 'मुक्तक' है, निराला के रूपक प्रगीत 'निबन्ध' है। पन्त के 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के भाव-चित्र चलचित्र है, 'पल-पल परिवर्त्तित प्रकृति-वेश' की तरह ही प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील है—'पुन पुन प्रिय पुन नवीन' है। ऐसे गत्वर चित्रो में भी मन की एक स्वाभाविक गतिशीलता रहती है। विविधता और अनेकता होते हुए भी उनमें राग की एक अन्तर्व्याप्त धारा अखण्ड बहती है।

निबन्ध-काव्य की अपेक्षा प्रगीत मुक्तक लिखने के लिए प्रतिभा के पूर्ण स्वावलम्बन की आवश्यकता है। निबन्ध-काव्य मे वस्तुजगत का आधार रहता है, प्रगीत मुक्तक मे एकमात्र अपने भाव-जगत (अन्तर्जगत) पर ही निर्भर रहना पडता है। निबन्ध-काव्य के कवि को जहाँ वस्तुजगत का आधार नही मिलता वहाँ उसकी भावना-कल्पना कुछ दूर चल कर अवरुद्ध हो जाती है। उदाहरण के लिए हम निराला जी की 'स्मृति' और 'यमुना के प्रति' के साथ

उनकी 'सरोज-स्मृति', 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते है। अपने निबन्ध-काव्यो में निराला जी जो सवेदना जगा पाते हैं, क्या वैसी ही सवेदना 'स्मृति' और 'यमुना के प्रति' में भी है?

'स्वर्णकिरण' में पन्त ने भी निबन्ध-काव्य लिखे है, उन्हें सफलता भी मिली है। किन्तु 'पल्लव' और 'गुञ्जन' के बाद उनकी कविता एक विशेष सोद्देश्य प्रयास से प्रौढ भले ही हो गयी हो, वही सरस-सजल नही है। निराला जी के अधिकाश गीतो के लिए भी यही कहा जा सकता है। कविता जब श्रम-साध्य हो जाती है, उसमें 'अतल की पुलकित सांस' अथवा हृदय का अनायास भावोन्मेष नही होता तो वह भाषा और भाव के भारी पाण्डित्य से निस्पन्द हो जाती है। कविता में शास्त्रीय सङ्गीत की तरह भाव और कला की बहुत कसावट अच्छी नही लगती। उसमें कुछ ढीलापन, कुछ लचीलापन होना चाहिये—

"सुरीले ढीले अधरो बीच
अधूरा उसका लचका गान" ही मनोरम हो सकता है। शैशव और यौवन की तरल मन स्थिति ही कवि की काव्य-साधना है।

काशी
११।१०।५७

निवन्ध का स्वरूप

निवन्ध किसे कहा जाय ? यद्यपि यह प्रश्न समयातीत हो गया है तथापि अब भी इसके सम्वन्ध में जिज्ञासा वनी हुई है ।

निवन्ध का स्वरूप हृदयङ्गम करने के लिए साहित्य का कलात्मक सस्कार अपेक्षित है ।

हमारे मध्यकालीन साहित्य में 'निवन्ध' शब्द का प्रयोग गोस्वामी जी के रामचरित मानस में मिलता है। प्रारम्भ में ही उन्होने मानस को नाना पुराण-निगमागम का भाषा-निवन्ध कहा है। कहाँ काव्य और कहाँ निवन्ध ! किन्तु निवन्ध से उनका अभिप्राय निवद्ध रचना से है। सस्कृत वाङमय की विविध निधियो को सङ्कलित कर उन्होने पुष्प-स्तवक की भाँति समवेत् सयोजित कर दिया है। इस तरह निवन्ध से किसी रचना का सङ्गठित रूप व्यक्त होता है। वह एक ऐसा लेखन-शिल्प है जिससे रचना का रूप-विन्यास होता है। वह ऐसा वन्धान या आन्तरिक छन्द है जिससे रचना सन्तुलित हो जाती है। लेखन-शिल्प के रूप में निवन्ध एक तन्तुविन्यास है, जैसे शरीर का स्नायविक सङ्गठन अंग्रेजी के 'एसे' और 'आर्टिकिल' में भी निवन्ध एक ऐसा ही शिल्प-तन्त्र है। शिल्प-वैशिष्ट्य से निवन्ध के सङ्गठित रूप में वैविध्य हो सकता है, किन्तु उसका सूत्र है ' अविच्छिन्नता, संयोजकता, सम्वद्धता।

केवल भावो और विचारो के सुचारु सञ्चयन में ही नही, गोस्वामी जी के मानस के काव्य-गठन (कथानक) अथवा रचनात्मक रूप में भी निबन्ध है। कथा के कारण वह प्रबन्ध काव्य है, किन्तु कथा-रहित मुक्तक काव्य भी निबन्ध बन सकता है। वर्त्तमान काव्य-साहित्य मे इसके प्रचुर उदाहरण मिलते है, विशेषत प्रसाद और निराला की रचनाओ मे। निराला जी ने मेरे 'गीत और कला' शीर्षक लेख मे कहा है—उनके गीतो में एक भाव का साङ्गोपाङ्ग निर्वाह रहता है। काव्य में जिसे साङ्ग रूपक कहते है वह भी तो एक प्रकार का भावात्मक निबन्ध है।

निबन्ध का क्षेत्र विस्तृत है। वह लेख में भी हो सकता है, काव्य में भी हो सकता है और कहानी में भी। 'गल्प' में निबन्ध का ही कथाबन्ध है। जैसे प्रसाद और निराला के मुक्तक काव्य में निबन्ध का शिल्प है, वैसे ही प्रेमचन्द और शरद की कहानियो में भी। कहने का अभिप्राय यह नही है कि काव्य और कहानी निबन्ध ही है। सङ्केत यह है कि निबन्ध का रूप काव्य में, कहानी मे, लेख मे, सस्मरण में, जीवनी में, आलोचना मे, पत्र और रिपोर्ताज में, भ्रमण-वृत्तान्त में, रचना के किसी भी विषय मे व्यक्त हो सकता है। फिर निबन्ध के सम्बन्ध में उलझन क्यो है? इसका कारण यह है कि निबन्ध को विषय के रूप में देखा जाता है। निबन्ध विषय नही, शिल्प है, लेखन-कला है। वैसे तो सभी सुसगत रचनाओ में एक निबन्धन रहता है, तथापि स्फुट लेखो को ही निबन्ध कहा जाता है। इससे निबन्ध का गुण नही,

आयतन स्पष्ट होता है। किन्तु निबन्ध लेख का कलेवर नहीं, कला है। उपन्यास के भीतर कहानी की तरह अथवा महाकाव्य में मुक्तक की तरह विशद ग्रन्थ में भी निबन्ध सन्निहित हो सकता है। ग्रन्थ के महाबन्ध से आवश्यकतानुसार निबन्ध का संक्षिप्त अथवा विस्तृत चयन किया जा सकता है।

निबन्ध को गद्य में, विशेषतः साहित्यिक लेखों में ही देखा जाता है। इसका कारण यह कि गद्य-साहित्य में निबन्ध का रूप अधिक प्रस्फुटित रहता है। यहाँ तक कि उसकी प्रधानता सूचित करने के लिए वह लेख का पर्याय हो गया। किन्तु निबन्ध लेख नहीं, गद्य-रचना का एक विशेष प्रकार है। गद्य में जिस रूप की प्रधानता होती है उसी रूप का व्यञ्जक शब्द संश्लिष्ट कर कोरे गद्य से भिन्न अर्थ व्यक्त किया जाता है, जैसे गद्यकाव्य और गीत-गद्य। गद्य में ही नहीं, काव्य में भी ऐसा ही संश्लिष्ट शब्द-प्रयोग किया जाने लगा है, जैसे गीत-नाट्य, गीत-काव्य, कथागीत। इसी तरह निबन्ध शब्द भी रचना के एक विशिष्ट रूप का ज्ञापक है।

निबन्ध लेख हो सकता है, किन्तु सभी लेख निबन्ध नहीं हो सकते। लेख में केवल लिखने की क्रिया रहती है, निबन्ध में क्रिया का शिल्प या क्रियाकल्प रहता है। उसमें मार्मिकता, रागस्पर्शिता अथवा शैली की व्यञ्जकता से आती है। शैली लेखन-कला की सजीवता है। इससे निबन्ध ही नहीं, किसी भी रचना के शिल्प में एक और शिल्पकारिता आ जाती है। यह कला की कला है। शैली से ही निबन्ध में कविता की, कहानी की,

नाटक की विशेषता आ जाती है, यथास्थान इन सबका स्वयमेव स्वाभाविक समावेश हो जाता है।

पुराने निबन्ध एक प्रकार के विवृत्त होते थे। उनका लेखन-विन्यास अथ से इति तक इतिवृत्तात्मक होता था। उनका वही रूप था जो द्विवेदी-युग में पद्य का था। निबन्ध का यह रूप वार्त्तालाप की भारतीय स्वाभाविकता का सूचक है। गोस्वामी जी ने भी अपनी रचनाओ में यत्र-तत्र वार्त्तालाप का यह नैबन्धिक सूत्र अपनाया है, यथा 'इति वदति तुलसीदास शङ्कर-शेष-मुनि-मन-रञ्जनम्।'—वक्तव्य का यह इत्यलम् रूप ही हमारी पिछली साहित्य-परम्परा में निबन्ध था। किन्तु जैसे पुराने ढग के गल्प और पद्य से कहानी और कविता में परिवर्त्तन हो गया वैसे ही निबन्ध के रूप में भी।

क्या निबन्ध निर्वन्ध नही हो सकता, जैसे मुक्तछन्द ? मुक्तछन्द वह है जो छन्दो में ही स्वच्छन्द है, बन्धन में ही निर्वन्ध है। कविता में जैसे मुक्त छन्द को साधने के लिए नियमित छन्दो की अपेक्षा विशेष कला-कुशलता की आवश्यकता पडती है वैसे ही निर्वन्ध निबन्ध में भी। सच तो यह है कि निर्वन्ध निबन्ध में कलाकारिता अधिक आन्तरिक हो जाती है। निबन्ध की निर्वन्धता से जो कलात्मक भङ्गिमा आ जाती है उसे ही विक्षेप-शैली और प्रलाप-शैली कहते है। इस निर्वन्धता एव शैली की विचित्रता में भी तथाकथित अविच्छिन्नता और सयोजकता बनी रहती है। रचना के बाह्य गठन तथा विचार और भाव की चरम परिणति में जो

अन्विति वनी रहती है, वही विक्षेप और प्रलाप-शैली में भी एक सूक्ष्म निवन्धशीलता ला देती है। विक्षेप-शैली का उदाहरण पन्त के 'पल्लव' की लम्वी कविताएँ हैं जो शव्द-शव्द और पक्ति-पंक्ति में अनेक उत्प्रेक्षाओ, लाक्षणिकताओ और रस-विविवताओ को समेटे हुए एकान्वित हो जाती हैं। गुलेरी जी की कहानी ('उसने कहा था'), चतुरसेन शास्त्री और उग्र जी के कतिपय लेख विक्षेप-शैली के द्योतक हैं। प्रलाप-शैली का उदाहरण वँगला से अनूदित उपन्यास 'उद्भ्रान्त प्रेम' है। निराला जी के एक लेख ('वर्त्तमान धर्म्म')को पं० वनारसीदास चतुर्वेदी ने 'साहित्यिक सन्निपात' कहा था। क्या वह प्रलाप-शैली का लेख था? नही, उसमें प्रलाप नही, प्रतीक की साकेतिकता थी। शैली की नही, अर्थ की गूढ व्यञ्जकता थी। किसी भी रचना में प्रतीक की भी अपनी विशिष्टता है, उससे अभिप्राय विन्दु मे सिन्धु की तरह सारगर्भित हो जाता है, किन्तु उसे अत्यन्त गूढ और क्लिष्ट नही होना चाहिये। अति गूढता अथवा क्लिष्टता से रचना शुष्क और गरिष्ठ हो जाती है।

जैसे सभी लेखक निवन्धकार नही हो सकते, वैसे ही सभी निवन्धकार शैलीकार नही हो सकते। सूक्ष्मदर्शिता के अभाव में अपने यहाँ सभी प्रसिद्ध लेखको को शैलीकार कहने का रिवाज चल पडा है। हिन्दी में शैलीकार निवन्धकार वहुत कम हैं। स्व० आचार्य्य शुक्ल जी की उक्तियो में यत्र-तत्र शैली की व्यञ्जकता है, किन्तु वे शैलीकार-निवन्धकार नही, लेखक और आलोचक हैं। उनका आरम्भ मनोवृत्त्यात्मक लेखो (लोभ, प्रीति, ईर्ष्या इत्यादि)

से हुआ था, पर्य्यवसान आलोचना में हुआ। पुराने लेखकों में प० पद्मसिंह शर्म्मा, सन्त पूर्णसिंह, स्वामी सत्यदेव, चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरी, शिवाधार पाण्डेय निःसन्देह शैलीकार है, नये लेखकों में स्व० चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', शिवपूजन सहाय, माखनलाल चतुर्वेदी, जैनेन्द्रकुमार।

निबन्ध के विषय और शैली अनेक हो सकती है विचारो की दृष्टि से वर्णनात्मक, आलोचनात्मक, दृश्यात्मक, विवेचनात्मक, रसात्मक, कला की दृष्टि से लाक्षणिक, व्यञ्जनात्मक, ध्वन्यात्मक, व्यग्यार्थक। कला की दृष्टि से आलोचना में भी निबन्ध और शैली की विशेषताएँ देखी जा सकती है। आलोचना में शैली सोने में सुगन्ध है। यदि यह सम्भव नही हो तो उसमें निबन्ध का शिल्प-नैपुण्य होना चाहिये, अन्यथा, वह दर्शन और गणित की तरह शुष्क हो जायगी। यो तो जैसे लेख लिखे जाते है वैसे ही आलोचना भी लिखी ही जाती है, किन्तु निबन्ध के बिना आलोचना का गठन नही हो सकता।

काशी,
१५।२।५७

प्रभाववादी समीक्षा

भारतीय हिन्दी-परिषद् के चतुर्दश वार्षिक अधिवेशन (काशी) की साहित्य-गोष्ठी का विचारणीय विषय था—'साहित्य-शास्त्र और व्यावहारिक समालोचना।'—इस विषय से यह सूचित होता है कि समालोचना साहित्य के शास्त्रीय रूप से मुक्त हो रही है और अपने प्रचलित (व्यावहारिक) रूप में परिवर्त्तन की ओर जा रही है। परिवर्त्तन से शायद साहित्य की शास्त्रीय मर्य्यादा के लिए सङ्कट की आशङ्का है, इसीलिए उसके साथ व्यावहारिक समालोचना को एक चिन्तनीय समस्या के रूप में सम्बद्ध किया गया है। हम देखें कि दोनो की क्या स्थिति है?

संस्कृति के लिए जैसे धर्म्मशास्त्र, वैसे ही वाङ्मय के लिए साहित्य-शास्त्र है। धर्म्म-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र युगो की उपलब्धियो के आकर ग्रन्थ हैं। संशय के क्षणो में उनसे आप्त निर्देश मिलता है। किन्तु जब जिज्ञासा को पर्य्याप्त समाधान नही मिलता तब वह आकर ग्रन्थो से बाहर बौद्धिक स्वावलम्बन का आश्रय लेती है। जिज्ञासा की यही मानसिक प्रवृत्ति शास्त्रो की सीमा (परम्परा) से मुक्त होकर प्रज्ञा के प्रशस्त क्षेत्र में प्रवेश करती है। क्या आप्त युगो में भी उसने ऐसा ही प्रयास नही

किया था ? साहित्य और धर्म्म में कितने ही तो मत-मतान्तर चले, सभी मतों का समवाय कर के उन्हें शास्त्रीय रूप दिया गया। इसी तरह नयी उपलब्धियो का भी शास्त्र में समावेश किया जा सकता है।

आचार्य्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"साहित्य के शास्त्र-पक्ष की प्रतिष्ठा काव्यचर्चा की सुगमता के लिए माननी चाहिये, रचना के प्रतिवन्ध के लिए नही।" यदि रचना, शास्त्रीय प्रतिवन्ध से मुक्त हो सकती है तो उसकी आलोचना भी केवल शास्त्रीय ही कैसे रह सकती है, वह भी रचना की तरह ही मौलिक हो जाती है। प्रभाववादी समीक्षा में रचना के साथ ऐसी ही तद्रपता रहती है जैसी 'देव' की इन पक्तियो में छवि के साथ प्रतिच्छवि की तद्रूपता है—

'देव' मैं सीस वसायो सनेह सो
भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यो।
कचुकी में चुपर्‌यो करि चोवा
लगाय लियो उर सो अभिलाख्यो॥
लै मखतूल गुहे गहने
रस मरतिवन्त सिगार कै चाख्यो।
सांवरे लाल को सांवरो रूप मैं
नैनन को कजरा करि राख्यो॥

छवि के साथ ऐसी तद्रूपता उसके साथ 'सनेह' होने से ही सम्भव है। प्रभाववादी समीक्षा में यही स्नेह रचना के साथ

तादात्म्य अथवा आत्मीयता के रूप में सम्बन्ध-सूत्र जोडता है। इसके विना समीक्षा में ग्राहकता नही आ सकती।

आत्मीयता स्थापित करने के लिए समीक्षा मे भी अनुभूति अपेक्षित है। अनुभूति से ही रस-बोध, राग-बोध, भाव-बोध, सौन्दर्य्य बोध होता है, कला-बोध भी उसी से होता है। जिसे सौन्दर्य्य-बोध और कला-बोध है वही तो 'मूरतिवन्त' का 'सिंगार' करके रस को 'चाख' सकता है, रसास्वादन कर सकता है।

भावात्मक रचना और प्रभाववादी समीक्षा, दोनों ही अनुभूति के कारण अन्तर्मुखी हैं। रसखान ने कहा है—

खोलि री घूंघट खोलौं कहा
वह मूरति नैनन मांझ वसी है।

जो 'मूरति' 'नैनन' में वस कर अनुभूति अथवा अन्तर्व्यापिका हो हो गयी है उसे रचना अपनी कला से भाव-चित्र में प्रत्यक्ष करती है, प्रभाववादी समीक्षा अपनी रागात्मकता से उस अनुभूति और कला का सश्लेपण-विश्लेपण और निरूपण करती है। एक शब्द में वह रचना का मर्म्मोद्‌घाटन करती है।

रचना में जो अनुभूति प्रत्यक्ष होकर व्यक्त होती है वही अनुभूति प्रभाववादी समीक्षा मे परोक्ष अनुभूति या सहानुभूति (सह-अनुभूति) होकर प्रतिभासित होती है। अनुभूति के द्वारा रचना जैसे 'मूरतिवन्त' का 'सिंगार' करती है, वैसे ही समीक्षा सहानुभूति-द्वारा रचना का शृङ्गार करती है। भाव (सौन्दर्य्य) के अनुरूप शृङ्गार (अलङ्करण) के सयोजन में रचना अपनी

कलाकारिता का परिचय देती है, रचना के अनुरूप शृङ्गार की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता अथवा सङ्गति-असङ्गति को परखने में समीक्षा अपनी कलाविज्ञता का परिचय देती है। इस तरह प्रभाववादी समीक्षा में केवल भावुकता नही है, उसमें शिल्प-प्रवीणता भी है। अनुभतिशील रचना मे जैसे भाव और कला का सयोग रहता है वसे ही सहानभूतिपूर्ण समीक्षा में भी। किन्तु सहानुभूति केवल रचना की प्रत्यनुभूति नही है, वह ऐसी विशेषानुभूति भी है जो रचना को यथास्थल निर्देशन भी देती है, तभी तो रचनात्मक ही नही, समीक्षात्मक भी है।

अनुभूति शुष्क भी हो सकती है, किन्तु सहानुभूति वसी रूक्ष कभी नही हो सकती। वह सहृदयता से चिर सरस, सजल और तरल होती है। सहानुभूति में वही स्नह-स्निग्ध आत्मा रहती है जिसे कालिदास नें 'आर्द्रान्तरात्मा' कहा है। एसी सुकोमल सहानुभूति से समीक्षा का गुरुतर काय्य कैसे हो सकता है?—नदी की उस धारा को देखिये जो अपनी तरल गति-यति, रति-विरति से ही सार और नि सार का मूल्याङ्कन कर लेती है। सतही चीजो को सतह पर ही छोड देती है। जिसमें जैसी क्षमता है वह उससे वैसा ही स्थान और व्यवहार पाता है।

'रत्नाकर' जी की इन पक्तियों से प्रभाववादी समीक्षा की भी निरीक्षक दृष्टि का परिचय मिल जाता है—

ऐसे कछू मायामयी सौतुक तिहारे नैन
जिनको न कौतुक कछूक कहि जात है।

गुन-त्रिन तिनसौं सुमेरु-गरुवाई गहै
दोप-मेरु त्रिन-सौं हलुक रहि जात है।
करुना-अपार-'रतनाकर'-तरङ्गनि मैं
ताके उपयोग कौ सुजोग लहि जात है।
एक तहियाइ कै हिये मैं ठहिजात वेग
एक फहियाइ कै वहकि वहि जात है॥

इसी तरह तरल-सजल प्रभाववादी समीक्षा में भी सार-भाग 'तहिया' जाता है, तलस्पर्शी हो जाता है, नि सार-अंश 'फहिया' जाता है, फालतू होकर वह जाता है।

इस समय साहित्य की समालोचना की जो अनेक पद्धतियाँ प्रचलित है, उन्हे इस रूप में देखा पहिचाना जा सकता है—(१) रीतिकालीन शास्त्रीय समीक्षा, (२) प्रभाववादी समीक्षा, (३) प्रगतिवादी समीक्षा, (४) फ्रायडियन या मनोवैज्ञानिक समीक्षा, (५) प्रयोगवादी समीक्षा।

सम्प्रति रीतिकालीन शास्त्रीय समीक्षा मे रागानुभूति नहीं है। वह भाव और रस को भी कला-विधान (अलङ्कार) के द्वारा ही परखती है, जब कि प्रभाववादी समीक्षा भाव-रस-कला, इन तीनो की परख अनुभूति से ही कर लेती है। शास्त्रीय समीक्षा सीमाओं मे (साहित्यिक परम्पराओं मे) रुढि-बद्ध है, प्रभाववादी समीक्षा रुढि-मुक्त (रोमैन्टिक) और युगातीत है। उसमे संवेदना का स्वावलम्बन है, शास्त्रीय समीक्षा में बौद्धिक परावलम्बन है। अपनी संवेदना से प्रभाववादी समीक्षा आप्त युगो की उपलब्धियों को भी स्वायत्त कर सकती है, किन्तु शास्त्रीय समीक्षा नयी उप-

लब्धियो को ग्रहण करने के लिए अतीत की ओर देखने लगती है। आज दोनो समीक्षाओ में आत्मोपार्जन और परोपजीवी जीवन जैसा अन्तर पड गया है। अतीत में जिन आचार्य्यो ने समीक्षा को व्यवस्थित (वैधानिक) रूप दिया उन्होने अपनी सवेदना से ही साहित्य के उर्व्वर तत्त्वो (बीजाङ्कुरो) को सङ्कलित किया। आचार्य्य शुक्ल जी ने भी ऐसा ही गुरुत्वपूर्ण कार्य्य किया। अब यदि शास्त्रीय समीक्षा में सवेदना का स्वावलम्बन और अनुभूति का आत्मोपार्जन नही होगा तो वह अतीत के बीजाङ्कुरो को कैसे सुरक्षित रख सकेगी ? क्या उसका भण्डार रिक्त नही हो जायगा ? शास्त्रीय समीक्षा के उत्तराधिकारी केवल ग्रन्थ-ज्ञान लेकर चल रहे हैं और छात्रो के मस्तिष्क को भी ग्रन्थिल बना रहे हैं, उनमें स्वाध्याय का स्वाभाविक स्वास्थ्य नही है। पैदल तीर्थ-यात्रा की तरह साहित्यिक प्रगति के लिए भी बौद्धिक स्वावलम्बन की आवश्यकता है।

प्रगतिवादी समीक्षा भी सवेदन-शून्य है। वैधानिक समीक्षा जैसे साहित्य-शास्त्र को पकड कर चलती है वैसे ही प्रगतिवादी समीक्षा भी अर्थ-शास्त्र अथवा समाज-शास्त्र को पकड कर चलती है। इनमें अनुभूति नही, सहानुभूति नही, अन्त प्रेरणा नही, ये ऋण लिये हुए सिद्धान्तो से बाह्य-प्रेरित हैं। यही स्थिति फ्रायडियन या मनोवैज्ञानिक समीक्षा की भी है।

द्विवेदी-युग के स्थूल काव्य के बाद जैसे अन्तर्मुख छायावाद का आविर्भाव हुआ वैसे ही शास्त्रीय समीक्षा के बाद प्रभाववादी समीक्षा का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्य जब प्रगतिवादी और मनोवैज्ञानिक

समीक्षा से फिर स्थूल विषय बन गया तब नवीन भावचेतना से प्रयोगवादी समीक्षा का उद्भव हुआ। प्रयोगवादी समीक्षा प्रभाववादी समीक्षा का ही रूपान्तर है। यद्यपि प्रयोगवादी कविता की तरह ही प्रयोगवादी समीक्षा भी ऊबड़-खाबड़ है तथापि अनुभूति के आधार पर ही यह भी काव्यकला के नये प्रतिमानों की स्थापना करती है। प्रयोगवादी कविता और समीक्षा अभी गद्य-संस्कारों से मुक्त नहीं हो सकी है, किसी अंश तक इसमें प्रगतिवादी अहम् और मनोवैज्ञानिक कुण्ठा बनी हुई है, इसी लिए हार्दिक स्निग्धता अथवा रसार्द्रता का अभाव है।

साहित्य यदि केवल व्याकरण, निरुक्त और भाषा-विज्ञान नहीं है, वह ललित वाङ्मय (कविता, कहानी, उपन्यास, इत्यादि) भी है तो समीक्षा का प्रभाववादी हो जाना अनिवार्य्य है। प्रभाववादी समीक्षा अपने कला-बोध से शास्त्रीयत्व समीक्षा को भी उसी तरह नवीनता दे सकती है, जिस तरह कवि-श्री पन्त ने 'पल्लव' में 'व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ' तोड़ कर अपने सौन्दर्य्य-बोध से शब्दों को नवीन अर्थ-व्यञ्जकता दी है।

जैसा कि अन्यत्र कहा है—प्रभाववादी समीक्षा (और उसकी उद्भाविका छायावाद की कविता) आप्त युगों की उपलब्धियों को भी स्वायत्त कर सकती है, किन्तु कोई भी शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक समीक्षा अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों को हृदयङ्गम नहीं कर सकती। यह क्यों? इसका उत्तर इस कथन से मिल जायगा—"शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है, न्यूटन शेक्सपियर नहीं।"

काशी,
२६।७।५७

विश्वविद्यालयों में साहित्य का ह्रास

भारत में जिस अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की बुनियाद नौकरी के लिए डाली गयी थी उस शिक्षा-प्रणाली से उच्चकोटि के मानसिक विकास की आशा नही की जा सकती। शासक अंग्रेज थे, अतएव उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का विशेष प्रयास किया गया। भाषा और साहित्य के अतिरिक्त राष्ट्रहित के लिए औद्योगिक विषयो की शिक्षा की ओर ध्यान नही दिया गया, क्योकि शासक औद्योगिक दृष्टि से भारत को स्वावलम्बी नही बनने देना चाहते थे। भारत के स्वावलम्बी बन जाने पर नौकरशाही टिक नही सकती थी। अंग्रेजी शासन-काल में भाषा और साहित्य के अतिरिक्त जिन अन्य विषयो (भूगोल, इतिहास, गणित, विज्ञान, इत्यादि) का अध्ययन-अध्यापन होता था वह इतना पर्य्याप्त नहीं समझा जाता था कि उनके द्वारा कोई उच्च स्थान पा जाता। क्या भाषा, क्या साहित्य, क्या अन्य विषय, सभी विषयो की विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए विलायत जाना जरूरी था। कभी विदेशो से लोग जगद्गुरु भारत में ज्ञान प्राप्त करने आते थे और अब भारत के लोग विदेशो में जाने लगे। यद्यपि ज्ञान के लिए कोई भौगोलिक

सीमा नही बाँधी जा सकती, तथापि शासको की सङ्कीर्ण मनोवृत्ति के कारण देश-विदेश कही भी ज्ञान की विशद उपलब्धि नही हो सकती थी। फिर भी विलायत से विशेपज्ञता प्राप्त करके आने वालो को अंग्रेजी सरकार इसलिए उच्च स्थान देती थी कि उनके द्वारा भारतीयो का बौद्धिक स्वावलम्बन भी समाप्त किया जा सकता था।

ऐसे ही आर्थिक और बौद्धिक दासता के दूपित वातावरण में कांग्रेस ने स्वतन्त्रता का मन्त्रोच्चारण किया। गान्धी जी के स्वस्थ नेतृत्त्व में देश ने अपने स्वरूप को पहिचाना, वह स्वावलम्बन के पथ पर अग्रसर हुआ। औद्योगिक स्वावलम्बन का प्रतीक खादी बनी, बौद्धिक स्वावलम्बन का प्रतीक हिन्दी। दोनो मे भारत की सांस्कृतिक आत्मा का अङ्कुरण हुआ।

विदेशी शासन की तरह जब विद्यालयो और विश्वविद्यालयो मे अंग्रेजी का साम्राज्य था तब हिन्दी को हेय दृष्टि से देखा जाता था। अंग्रेजी के बाद उर्दू का बोलबाला था। हिन्दी को सरकारी मान्यता दिलाने में किन दिक्कतो का सामना करना पडा, यह किसी से छिपा नही है। भापा की दृष्टि से अदालतो में और साहित्य की दृष्टि से विश्वविद्यालयो में हिन्दी को स्थान मिलने मे समय लगा।

कालान्तर में जब विश्वविद्यालयो में एक स्वतन्त्र विषय के रूप में हिन्दी-साहित्य का भी पठन-पाठन होने लगा, तब अदालती कारबार की तरह वह आर्थिक लाभ और लोभ का साधन नहीं

था। अध्यापकों और छात्रों में अपने साहित्य के प्रति श्रद्धा थी, आत्मीयता थी, ममता थी। यद्यपि स्वतन्त्रता के आन्दोलन की तरह हिन्दी का भविष्य भी अनिश्चित था, तथापि राष्ट्रीय कर्त्तव्य की तरह साहित्यिक कर्त्तव्य भी स्वाभाविक धर्म्म बन गया था, उसमें त्याग और तप की पवित्रता थी।

विश्वविद्यालयों में जब हिन्दी-साहित्य का अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हुआ, तब छात्रों और अध्यापकों की सख्या बहुत कम थी, आर्थिक प्रतियोगिता नहीं थी। साहित्य स्वान्त सुखाय था, अतएव विश्वविद्यालयों में हिन्दी-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन का आरम्भ उच्चस्तर पर हुआ। सौभाग्य से अतीत का समृद्ध साहित्य इस स्तर को बनाये रखने के लिए प्राप्त हो गया था। उसके बाद द्विवेदी-युग और छायावाद-युग का साहित्य उपलब्ध हुआ, इन दोनों युगों में अतीत का सारस्वत हृदय था, अतएव साहित्य का उच्चस्तर बना रहा।

यद्यपि देश में सामन्तवाद और पूँजीवाद था तथापि पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति से वह अभी दूर था, उसमें सौहार्द शेष था, इसीलिए व्यवस्थित चित्त से सामाजिक और साहित्यिक निर्म्माण में लगा हुआ था। इसके बाद जन-सख्या, बेकारी और निर्जीव यन्त्रोद्योगों के कारण इस देश में भी आर्थिक विभीषिका फैल गयी, औद्योगिक क्रान्ति ने यहाँ का भी वातावरण विक्षुब्ध कर दिया। कृषि-युग में प्रत्येक प्राणी का एक-दूसरे से जो सामाजिक सम्बन्ध था वह यन्त्र-युग में टूट गया। साहित्य और समाज की रचनात्मक

प्रवृत्ति समाप्त हो गयी। जीविका ही जटिल समस्या वन गयी। येन-केन-प्रकारेण अर्थोपार्जन ही सवका उद्देश्य हो गया। इस निर्जीव आजीविका अथवा आर्थिक जडता का दुष्प्रभाव विद्यालयो और विश्वविद्यालयो पर भी पडा।

नौकरशाही ने जिस शिक्षा-प्रणाली की वुनियाद नौकरी के लिए डाली थी वही प्रणाली अव साहित्य के पठन-पाठन में भी पचलित हो गयी। विद्यालयो और विश्वविद्यालयो मे सरस्वती के पुजारी नही, लक्ष्मी के गुलाम पैदा हो रहे है। गत वर्ष भारतीय हिन्दी-परिषद् (काशी) की शोध-गोष्ठी के अध्यक्ष-पद से प्रमुख वक्ता ने कहा था—"प्राचीन काल के मनीषी जीवित रहने के लिए भोजन करते थे और चिन्तन के क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए जीवित रहते थे। आज हम भोजन की समस्या सुलझाने के लिए चिन्तन के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते है।"—ऐसी उदरम्भरि प्रवृत्ति से विश्वविद्यालयो में साहित्य के विकास की आशा नही की जा सकती, उसका उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा है।

क्या खादी और हिन्दी का प्रचार व्यापार के लिए किया गया था? व्यापार वन कर दोनो ही नही चल सकती। व्यापार में स्वार्थान्धता है, खादी और हिन्दी में प्राणिचेतना है, सामाजिक सवेदना है। जैसे गौ के व्यापार से गोरक्षा नही हो सकती, वैसे ही खादी और हिन्दी की भी रक्षा नही हो सकती। भारत भी क्या भक्षक ही वना रहेगा, सामाजिक प्राणी नही? यदि पुराकाल में ही भाषा और साहित्य व्यापार वन गया होता तो ये वेद-उपनि-

पद्-पुराण-रामायण-महाभारत सरस्वती के मन्दिर के दीपस्तम्भ वन कर सृष्टि को आलोक कैसे प्रदान करते !

जहाँ अर्थोपार्जन ही साध्य और साधन हो गया है वहाँ साहित्य का मस्तक कैसे ऊँचा हो सकता है, साहित्यकार कैसे समाज में अपना विशिष्ट स्थान वना सकता है ?

हिन्दी के आरम्भिक प्रचार-काल में विद्यालयो के लिए गद्य-पद्य के जो सग्रह तैयार किये जाते थे उनसे छात्रो का मानसिक परि-पोपण होता था। यद्यपि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने हिन्दी को उर्दू के भार से दवा दिया था, तथापि उस समय भी सामग्री ऐसी सुपाठ्य रहती थी कि छात्रो में प्रतिभा का प्रस्फुरण हो जाता था, जैसे 'राजा भोज का सपना', 'कठिनाइयो का पर्वत', इत्यादि। जव काशी नागरीप्रचारिणी सभा और 'सरस्वती' के सत्प्रयास से भापा का शुद्धीकरण हुआ तव छात्रो का वही अन्त-प्रस्फुरण सस्कृत से प्राञ्जल हो गया। उस समय के सस्कारो और विचारो से विकसित छात्र ही आगे चल कर हिन्दी के लेखक वने। इसके वाद जव साहित्य व्यवसाय वन गया तव सग्रहो की भरमार हो गयी। तिकडम से जो सग्रह स्वीकृत हो गया उसी के हाथ में वाजार आ गया। कौन देखता है कि सग्रह अच्छा है या वुरा। पहिले प्राइमरी और मिडिल के छात्र भी शुद्ध शव्द और शुद्ध भापा लिखते थे, अव शुद्ध भापा की आशा करना तो दुराशा है, उच्च कक्षाओ के छात्र शव्द भी शुद्ध नही लिख सकते। शिक्षा-विभाग की ओर से पाठ्य-ग्रन्थो के लिए तरह-तरह के नियम वनाये जाते

है, फिर भी व्यापारी अपना काम वना ही लेते है, क्या कानून वना देने पर भी अन्धेर नही होता। नियमो के निर्म्माता और निरीक्षक भी उसी दूपित अर्थशास्त्र के आश्रित है जिस विकृत अर्थशास्त्र से व्यापारियो का स्वार्थ सधता है। जव तक पूँजीवाद (साथ ही यन्त्रवाद) का अन्त नही होता तव तक सार्वजनिक हित की दृष्टि से कोई भी सत्कार्य्य नही हो सकता, मनुष्य सामाजिक स्तर पर जीना नही सीख सकता।

विद्यालयो मे पाठ्यग्रन्थो का जो व्यापारिक प्रवेश हुआ वह विश्वविद्यालयो में वृहत् रूप मे प्रकट हुआ। वहाँ के छात्रो के लिए भी जो सग्रह तैयार किये जाते है उनसे साहित्य का सम्यक् अध्ययन नही होता। सग्राहक प्राय: अध्यापक होते है, वे खुशामद के लिए प्राध्यापको और विभागीय अध्यक्षो की रचनाएँ अधिक सकलित करते है, अच्छे-से-अच्छे लेखको को छोड देते है।† सग्रहो के अतिरिक्त जो अन्य ग्रन्थ स्वीकृत किये जाते है वे भी प्राय प्राध्यापको और विभागीय अध्यक्षो के या उनके मित्रो के ही होते है। अपनी-अपनी गोटी वैठाने में सभी विश्वविद्यालय एक दूसरे के साथ अपना-अपना स्वार्थ स्थापित किये हुए है, यही इनका 'सह-अस्तित्व' है। पाठ्यग्रन्थो में ही नहीं, प्रश्नपत्र और परीक्षा की कापियो मे भी इन्ही की साझेदारी है। इस तरह विश्वविद्यालय ऐसे व्यापारिक लिमिटेड वन गये है जिनने या तो अध्यापको का

† यू० पी० की गुटवन्दियो से दूर के प्रान्तों में अभी किसी अंश तक साहित्यिक आस्था शेष है।

अधिक लाभ होता है या उनके कृपाप्राप्त प्रकाशको का। सरस्वती के प्राङ्गण में भी कितना वैषम्य है!!

सग्रह हो चाहे स्वतन्त्र ग्रन्थ हो, न उनमें कोई क्रमबद्धता है, न कोई उपयुक्तता। सब कुछ खोखलेपन को भरने के लिए ठूँस-ठाँस है। साहित्य के इन दिग्गजो को इतना भी विवेक नही है कि, किसे सहायक ग्रन्थ बनावें, किसे अनिवार्य्य ग्रन्थ। किसी कवि की रचना यदि अनिवार्य्य ग्रन्थ वन सकती है तो क्या उस पर लिखी सभी पुस्तकें सहायक ही हो सकती है, अनिवार्य्य नही? जो पुस्तकें केवल कुञ्जी या टीका या कवि-विशेष का भाष्य मात्र नही है वे अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती है। भाषा, विचार और शैली की दृष्टि से वे गद्य-साहित्य की विशेष कृति है, जैसे सूर-तुलसी पर शुक्ल जी की विवेचना और बिहारी-सतसई पर पद्मसिंह शर्म्मा की सरस समीक्षा। गद्य-साहित्य के इसी सन्दर्भ में पन्त-काव्य पर इन पक्तियो का लेखक 'ज्योति-विहग' को भी उपस्थित करता है। ऐसी पुस्तको से किसी एक कवि या लेखक का ही अध्ययन नही होता, वल्कि लेखन-कला के साथ-साथ साहित्य का एक व्यापक सौन्दर्य्य-बोध भी जगता है। समालोचना या विवेचना इनका आलम्बन वैसे ही वन सकती है जैसे कविता और लेख के लिए कोई विषय। कविता और निवन्ध की तरह ही ऐसी समीक्षात्मक पुस्तकें भी अपने आप में एक मौलिक कृति वन जाती है।

पाठचक्रम ऐसा वनाना चाहिये जिससे छात्रो का मानसिक विकास हो सके। पाठ्यग्रन्थो पर विचार करते समय उन अच्छी

पुस्तको का भी ध्यान रखना चाहिये जो किसी कारण-वश नियमानुसार आफिस में नही आ सकी हो। उद्देश्य नियम निभाना ही नही, छात्रो को लाभान्वित करना भी होना चाहिये। केवल बँधे-बँधाये नियमो से किसी भी विभाग का काम नही चल सकता, इसीलिए आवश्यकतानुसार अपवाद की भी गुंजाइश रखी जाती है। विचार-समिति के सदस्यो को केवल अपनी सदस्यता ही नही निभानी है, उन्हें साहित्य का स्वस्थ प्रतिनिधित्त्व भी करना है, यह तभी सम्भव है जब वे पुस्तको के चुनाव में अपने स्वाध्याय और स्मृति का भी परिचय दें। ऐसे सुयोग्य सदस्य भला कितने है?

विद्यालयो और विश्वविद्यालयो में पाठ्यग्रन्थो का स्थान कितना नि सत्त्व है यह उन ग्रन्थो की कुञ्जियो से स्पष्ट हो जाता है। पाठ्यग्रन्थो का जो व्यापार सम्मानित रूप में चल रहा है उसी का वास्तविक रूप (निकृष्ट रूप) ये कुञ्जियां है।

किसी प्रसिद्ध कवि की कोई पुस्तक या काव्याश पाठ्य-रूप में स्वीकृत हो जाने पर दर्जनो छोटी-मोटी समालोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित होने लगती है। अध्ययन और विवेचन के नाम पर उनमें भ्रम भरा रहता है। यही हाल एम० ए० और डाक्टरेट के लिए लिखी जाने वाली थीसिसो तथा व्यवसायी लेखको-द्वारा लिखे गये साहित्य के इतिहास का भी है। चाहे समालोचना हो, चाहे इतिहास, ऐसी पुस्तको मे न कोई विशेषता होती है और न मर्म्मज्ञता, न ज्ञानव्यता, इनसे केवल ग्रन्थो और प्रकाशको की सख्या बढती है। किस पर पुस्तक लिखी जानी चाहिये, किस पर

लेख लिखा जाना चाहिये, किस पर केवल दो-चार पक्तियाँ लिखी जानी चाहिये, किस पर कुछ भी नही लिखा जाना चाहिये, साहित्य के स्थायित्त्व के लिए इसका विवेक आवश्यक है। प्रचार के युग में कोई भी प्रसिद्ध हो सकता है, किन्तु सभी तो उल्लेखनीय साहित्यिक कीर्त्तिस्तम्भ नही हो सकते। किन्तु जिन्हें साहित्य से अधिक अपने स्वार्थ की चिन्ता है, उनसे क्या कहा जाय !

जिस युग में परीक्षा पास करना ही योग्यता समझा जाता है उस युग में छात्र ऐसी-वैसी पुस्तकें उलटा-सीधा पढ कर उत्तीर्ण हो जाते है। इन्ही में से जव कोई अध्यापक हो जाता है तव वह भी अपनी घिसी-घिसाई पटरी पर अन्य छात्रो को चलाने लगता है। साहित्य मे ही नही, सभी विपयो में, सभी पेशो में ऐसा ही वँधा-वँधाया ढर्रा है।

अध्यापक छात्रो को ठीक से पढा नही पाते। अध्यापन-कार्य्य उनकी रोजी का शगल है। अधिक आय के लिए वे वहुधन्वी होते है। कितनो को तो विभिन्न कमेटियो की मेम्वरी से ही फुरसत नही मिलती। जहाँ स्वार्थ और झूठा सम्मान ही अभीप्ट है वहाँ अध्यापन-कार्य्य कल्याणकारी कैसे हो सकता है !

जिस युग में लोक-प्रवञ्चना ही सारी सफलता की कुञ्जी है, उस युग में विद्या-अविद्या एक-सी ही डकिनी हो गयी है। ऐसे तामसिक वातावरण में लूटने-खाने के लिए प्रमाण-पत्र लेकर विश्व-विद्यालयो से प्रति वर्प सहस्रो उपाधिधारी निकल रहे हैं। हिन्दी में भी प्रति वर्प सैकडो एम० ए० और दर्जनो डाक्टर पैदा हो

रहे हैं। जिस अनुपात में इनकी सख्या वढ रही है उस अनुपात में प्रकाशन का साहित्यिक स्तर भी गिर रहा है। न इनमें अध्ययन है, न अनुभूति है, न मनन है, न चिन्तन है। जो कुछ है, चर्वित-चर्वण है। कितने एम० ए०, डॉक्टर, प्रिन्सपल, प्राध्यापक कृतविद्य लेखको की पुस्तको से शब्दश सामग्री चुरा कर, स्वय भी लेखक बन बैठे है। परमिट, लाइसेन्स और राशनकार्ड की तरह ये अपनी उपाधियो का दुरुपयोग कर रहे है।

उपाधियो से प्रतिभा का परिचय नही मिल सकता। सच तो यह कि जहाँ जितनी वडी और जितनी अधिक उपाधियाँ हैं वहाँ प्रतिभा (मौलिकता) का उतना ही अधिक अभाव है। स्वाभाविक प्रज्ञा का रिक्त स्थान (मानसिक खोखलापन) उपाधियो के कागजी प्रमाण-पत्र से वैसे ही भारी जान पडता है जैसे वायु से फूला शरीर। जब तक उपाधियाँ ही योग्यता का प्रमाण बनी रहेंगी तब तक विश्वविद्यालयो में साहित्य का स्तर ऊँचा नही हो सकता। आवश्यकता है कृतविद्य लेखको और कवियो को आनरेरियम देकर उनसे छात्रो के लिए प्रवचन कराने की। यदि वे समय दे सके तो उनसे प्रश्नपत्र भी तैयार कराये जा सकते हैं और कापियो की जाँच भी करायी जा सकती है। इस तरह साहित्यिक शिक्षा का शुद्धीकरण अथवा अन्त सस्करण होगा। उपाधिधारी अध्यापकों में भी जो प्रतिभाशाली है वे विश्वविद्यालयो की रट पढाई से नही, बल्कि कृतविद्य लेखको और कवियो की रचनाओ के स्वान्त -सुखाय स्वाध्याय तथा अपनी रचनात्मक प्रेरणा से ही भावतत्त्व

हैं। विशेषत छायावाद से जिन छात्रो में साहित्य की प्रातिभ चेतना जगी वे ही आगे चल कर विश्वविद्यालयो में किसी अश तक कलात्मक अध्यापक हुए। जब कृतविद्य लेखको और कवियो का साहित्यिक सम्प्रदान इतना जीवन्त है तब विश्वविद्यालयो में उन्हें ही सर्वप्रथम स्थान देना चाहिये, उनके बाद उपाधिधारियो को।

साहित्य हो या कोई अन्य विषय, उसके लिए प्रतिभा एव मौलिकता अपेक्षित है। विश्वविद्यालयो की जैसी मशीनी शिक्षा-प्रणाली है उससे प्रतिभा अङ्कुरित नही हो सकती। फिर भी, हम विश्वविद्यालयो के हिन्दी-विभागो से अनुरोध करते हैं कि वे साहित्य का स्तर नीचे नही गिरने दें, क्योकि राष्ट्रभाषा की मर्य्यादा उन्हें विश्व-साहित्य में स्थापित करनी है। वे अपने गुरुतर उत्तर-दायित्त्व का अनुभव करे। इस निश्चेतन वणिक-युग में उन्हें ही चेतना का आदर्श उपस्थित करना है।

काशी,
१६।७।५७

'धुरीहीनता'—एक नैतिक समस्या

'धुरीहीनता' के रूप में भारती ने एक समयोपयोगी प्रसङ्ग उठाया है। इस प्रसङ्ग से युग की वस्तुस्थिति का सर्वेक्षण करने का अवसर मिलता है। शताब्दियों के बाद हम लोग एक ऐसे युग में आ गये हैं जब कि आगे की यात्रा के पूर्व यह निश्चित कर लेना आवश्यक हो गया है कि हमारी गति-विधि ठीक है या अस्वस्थ है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिवाद भी ऐसा ही युग-निरीक्षण करता है, किन्तु उसका दृष्टिकोण राजनैतिक है, धुरीहीनता का दृष्टिकोण नैतिक है। एक ऐसे युग में जब कि प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ-प्रधान हो गया है, सबकी ऐतिहासिक परिणति एक-सी ही धुरीहीन होती जा रही है, तब नैतिक दृष्टिकोण की आवश्यकता स्वयसिद्ध है। इस विध्वंसात्मक अणु-युग में जैसे शान्ति और सह-अस्तित्व का मन्त्र फूँका जा रहा है वैसे ही नैतिक दृष्टिकोण के द्वारा धुरीहीनता के दुष्परिणाम से भी सजग किया जा रहा है।

भारती ने धुरीहीनता के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य सैद्धान्तिक सतह पर उपस्थित किया है। किन्तु व्यक्ति और उसके सामूहिक सङ्गठन समाज में ही सिद्धान्त की सृष्टि होती है, अतएव, सैद्धान्तिक सतह का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उनका वैयक्तिक तथा

सामाजिक स्तर पर आ जाना अनिवार्य्य है। सच तो यह कि वैयक्तिक (अथच सामाजिक) असङ्गतियाँ ही सैद्धान्तिक एव वैचारिक धुरीहीनता के रूप में व्यक्त होती है। वैयक्तिक तथा सामाजिक क्षेत्र सिद्धान्तो का व्यवहार अथवा कर्म्मपक्ष है। व्यवहार के बिना सिद्धान्त वैसे ही मौखिक अथवा शाब्दिक रह जाता है जैसे आचार के बिना विचार। भारती ने भी व्यक्तिगत उदाहरण देकर ही सैद्धान्तिक समीक्षा की है। राजनीति तो सदैव से धुरीहीन है, साहित्य ही अपने स्थायित्त्व में किसी ध्रुवध्येय पर स्थित होकर गतिशील होता है, अतएव, व्यक्तिगत उदाहरण भी साहित्य-क्षेत्र से ही दिये गये है। भारती ने जिन साहित्यिक व्यक्तियो के नाम दिये हैं, वे व्यक्ति नही, सम्मानित प्रतिनिधि है। ऐसे अन्य नाम भी दिये जा सकते हैं। भारती ने अपने लेख में कहा है—"जो भी नाम लिये गये है वे तो उदाहरण मात्र है जो नमूने के तौर पर चुन लिये गये है। बात किसी एक या दो या तीन की नही है।" 'निकष' के दूसरे अङ्क में नचिकेता ने भी कहा है—"एक और गया, एक और गया, यह कब तक गिना जाय, यह पाँत-की-पाँत जा रही है। किस-किस पर पछताया जाय, किस-किस पर सिर धुना जाय।"

आखिर इस सर्वत्र व्याप्त धुरीहीनता का कारण क्या है?

धुरीहीनता स्वार्थो की अस्थिरता से उत्पन्न होती है। व्यक्ति और समाज का निम्मीण जब स्वाभाविक सवेदनो और हार्दिक सहयोग से नही होता तब स्थापित स्वार्थो के द्वारा ही लोग एक-

दूसरे से सम्बन्ध जोडते हैं। स्वार्थ में बाधा पड़ने पर सम्बन्ध टूट जाते हैं। इसी का नाम दुनियादारी है। किन्तु वे लोग दुनियादारो से भी अधिक दुनियादार हैं जो सिद्धान्त की ओट में अपनी दुनियादारी को छिपाये रहते हैं और जब यह पर्दा काम नही देता तब उसे हटा कर खुले आम स्वार्थ का व्यापार करने लगते हैं। हम उन्हें असाधारण दृष्टि से देखते आये हैं इसीलिए उनकी इस दुनियादारी को देख कर चकित-विस्मित हो जाते हैं और क्षुब्धकण्ठ से बोल उठते हैं—"न रीढ, न धुरी, न दिशा, न विवेक, न लज्जा, न भय।" यदि हम साधारण-असाधारण का वर्गभेद हटा कर सबको उनके सामान्य प्राकृत रूप में देखें तो ऐसी ग्लानि नही होगी।

तथाकथित धुरीहीनता कोई नयी चीज नही है, यह तो युग-युग से चली आ रही है। रामायण और महाभारत-काल के बडे-बडे महापुरुषो में भी यह धुरीहीनता थी। जो लोग तन-मन से राम और रावण में से किसी एक के साथ थे उनके सम्बन्ध में आदर्श की दृष्टि से चाहे जो कुछ कहा जाय, धुरीहीनता की दृष्टि से कदाचित् कुछ नही कहा जा सकता, क्योकि उनका पक्ष स्पष्ट था, समस्या उन लोगो के द्वारा सामने आती है जो स्वार्थ के लिए कभी स्वस्ति रामाय और कभी स्वस्ति रावणाय कहते हैं। इनसे भिन्न महाभारत के वे महारथी (भीष्म, द्रोणाचार्य्य इत्यादि) थे जो हृदय से धर्म्म-पक्ष (पाण्डव-पक्ष) में थे और शरीर से अधर्म्म-पक्ष (कौरव-पक्ष) में। यहाँ तक कि भरी सभा मे द्रौपदी को

लाज उघरती देख कर भी मौन थे। उनके तन-मन की इस विभिन्नता में भी क्या धुरीहीनता नही थी ? तो क्या उन्हें भी उन धरीहीनो में परिगणित किया जा सकता है जिनका मन भी मलिन हो चुका है ? धुरीहीनता के विचारको के सामने यह मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। धुरीहीनो की भी कई श्रेणियाँ बनानी पडेंगी। उत्तम श्रेणी में गान्धी जी आ जायेंगे जो परिस्थिति के अनुसार अपनी अहिंसा की नीति बदलते रहते थे।

धुरीहीनता यदि युग-युग से चली आ रही है तो आज ही कौन-सी ऐसी नयी वात पैदा हो गयी कि वह चिन्ता का विपय वन गयी ? यो तो अन्धकार और प्रकाश दोनो ही चिरन्तन हैं, फिर भी मनुप्य प्रकाश की पूजा करता है, आदर्श के लिए सघर्प करता है। राजनैतिक दासता के दिनो में भारत भी नैतिक सघर्प करता रहा है। इस सघर्ष से जिस सुपरिणाम की आशा की जाती थी, वह सफल नही हुआ, इसीलिए धुरीहीनता की दृष्टि से युग-निरीक्षण की आवश्यकता आ पडी। युगद्रष्टा देखता है कि स्वतन्त्रता के घ्यय ने जिन्हें लोकसेवक (!) वना दिया था वे स्वतन्त्रता के वाद या तो सत्ताधारी हो गये या सत्ताधारियो के दरवारी हो गये। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो' की उक्ति अव भी चरितार्थ करने लगे।

आर्थिक क्षेत्र म ही नही, धार्म्मिक क्षेत्र में (मन्दिरो, मस्जिदो और गिरजाघरो में) भी जिस ईश्वर की उपासना की जाती है वह और कोई नही, मनुष्य का स्वार्थ है। ऐसा ईश्वर सत्ता और सम्पदा का दास है। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये। माननीय

पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त जब उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री थे तब बदरीनाथ की यात्रा करने पर उन्हें 'बोलन्दो बदरीनाथ' (बोलते हुए बदरीनाथ) की उपाधि दी गयी थी। बोलन्दो बदरीनाथ के रहते मूक बदरीनाथ की उपासना की क्या आवश्यकता है! पता नहीं, पण्डित पन्त ने इस उपाधि को किस रूप में ग्रहण किया, किन्तु इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मध्यकाल और ब्रिटिश काल के बाद भी जनता की मनोवृत्ति कितनी गुलाम है।

जनता को ही क्या कहा जाय, जिनमे स्वतन्त्र व्यक्तित्व की आशा की जाती थी वे साहित्यकार भी समर्थों के श्रद्धालु (!) और स्वार्थ के लिए शासको के नन्दी-भृङ्गी है। जयन्तियो, अभिनन्दन-ग्रन्थो स्वागत-समारोहो के रूप में इन्होने कितना बडा मायाजाल फैला रखा है! क्या कभी किसी सर्वहारा को भी इन सत्तापूजको ने अपनी सक्रिय सहानुभूति और आत्मीयता दी है! उनसे तो मिलते भी नहीं। यह कैसी विडम्बना है कि जो कल तक जनता के बीच थे वे भी बृटिश शासको की तरह अपने मुसाहबो के कारण जनता से दूर हो गये हैं। रायसाहब, रायबहादुर, खाँ बहादुर, सर और राइट आनरेबुल की जगह अब नये-नये उपाधिधारी, सरकारी कमेटियो तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय सनदो के मेम्बर शासको के हाथ-पाँव-नाक-कान बन गये है। सरकार की कृपा पाने के लिए इन नये मुसाहबो की कृपा पाना अथवा दासो का दास बनना जरूरी हो गया है। सुधाकर ने सम्पादकीय में लिखा है—"इसमें सरकार का नहीं उस यन्त्र का दोष है जो सरकार-

द्वारा निम्र्माण करने के लिए सस्थापित किया जाता है। जिन लोगो के हाथ में वितरण और दायित्त्व का अधिकार आता है, सामान्यतः वे उन यन्त्रो द्वारा सरकारी यन्त्र के पुर्जे वन जाते हैं जो कर्म्म नही, आस्था नही, कृतित्त्व नही, वरन् परस्पर सोपानिक वृत्ति* के द्वारा प्रतिष्ठित रहते है। जो लोग उनकी प्रगति के प्रसार तथा विचार के अवयव होते है वे ही उससे लाभान्वित हो पाते हैं। इस यान्त्रिक माया का परिणाम विषम भेद, परस्पर कलह तथा सत्ता-प्राप्ति में परिसीमित हो उठता है।"

वर्त्तमान स्थिति का उत्तरदायित्त्व सरकार पर भी कम नहीं है। जो लोग शासन-यन्त्र में सरकार बन कर पदारूढ हो गये हैं, वे वृटिश-काल की सेकिन्ड हैन्ड मशीन चला रहे हैं। उद्योगो में विदेशो की नकल कर रहे हैं। वैज्ञानिक उन्नति के नाम पर यन्त्रो के अनुचर बनते जा रहे हैं। उनमें गान्धी जी की तरह मौलिक निम्र्माण की क्षमता नही है।

आज देश में जो दरवारी वातावरण चल रहा है वह नया नही है, तो फिर अटपटा क्यो लगता है? वात यह है कि स्वाधीनता मिलने के पहिले (या यो कहिये, इसके भी पहिले, स्वदेशी मन्त्रिमण्डल वनने के पहिले) स्वतन्त्रता-सग्राम के दिनो में जनता और नेताओ के वीच राष्ट्रीय एकता थी, क्योकि आर्थिक दृष्टि से श्रेणिभेद होते हुए भी सवका स्वाभिमान वृटिश शासको के फौलादी पजो के नीचे दवा हुआ था। सत्ता और उसके वाद स्वतन्त्रता

* श्रेणिस्वार्थ अथवा स्थापित स्वार्थ।

मिल जाने पर श्रेणिभेद अथवा आर्थिक वैपम्य स्पष्ट हो गया, राष्ट्रीय एकता जाती रही, स्वार्थगत भिन्नता सामने आ गयी। पिछली ढँकी-छिपी वास्तविकता से इस उघरी हुई वास्तविकता का सादृश्य न होने के कारण वह अखरने लगी है, किन्तु है दोनों एक ही चीज।

स्वार्थों की भिन्नता (असामाजिकता) और उसके अनुसार चलने वाली राजनीति ही धुरीहीनता है, चाहे वह प्रतिस्पर्द्धी राष्ट्रो में हो, चाहे क्षुद्र व्यक्तियो में। यह स्वार्थपूर्ण राजनीति अवसरवादिता अथवा 'सामयिक उपयोगिता' को महत्त्व देती है, न्याय और धर्म्म इनके लिए नगण्य है। ऐसी निर्म्मम स्वार्थनीति के वातावरण में मनुष्य को पहिचानना कठिन हो गया है, किसे नकली कहें किसे असली? साहित्य, समाज और शासन में जिन्हें बडा समझा जाता है उनके प्रति समीक्षक सदिग्ध होकर कहता है—"इन बडे लोगो की कौन-सी मुसकराती हुई, या विद्रोह से तमतमाती हुई, या शान्ति से दीप्त मुखमुद्रा वास्तविक है, और कौन-सी केवल रँगी-चुँगी नकाव मात्र है, यह जानना आसान नही रह गया है। किस अवसर पर, किस बात के लिए, किस उद्देश्य से, ये कौन-सा सिद्धान्त लागू करते हैं, इनका कोई सिद्धान्त रह भी गया है या नही, यह अब समझ में नही आता।"

इस प्रकार के लोग दूसरो को धोखा देने के प्रयत्न में स्वय अपने को भी धोखा दे रहे है। इन्हें या तो वस्तुस्थिति का पता नही है, या जान-बूझ कर आँखें मूँदे हुए हैं। इस अणु-युग में

जब कि सबके सहजीवन या सबके सहमरण का निर्णायक क्षण निकट आता जा रहा है तब कोई स्वार्थ को लेकर ही कैसे जी सकेगा, कैसे विनाश से बच सकेगा ?

आज धुरीहीनता एक सक्रामक महाव्याधि के रूप में अणु-परीक्षण से उत्पन्न इन्फ्लुएंजा की तरह सारे ससार में फैलती जा रही है। ऐसे सक्रमणकाल में आज कौन स्वस्थ, आत्मस्थ, केन्द्रस्थ और धर्म्मधुरीण है ? आज युग-निरीक्षण की ही नही, आत्म-निरीक्षण की भी आवश्यकता है, अपनी-अपनी नव्ज टटोलने की जरूरत है। यदि कोई स्वस्थ (-चित्त) है तो लोकरक्षा के लिए उसका नैतिक कर्त्तव्य गुरुतर हो जाता है।

अणु-परीक्षण को अपना नैतिक विरोध देने के लिए जापान या किसी अन्य देश के कुछ लोग विस्फोटीय क्षेत्र में जाकर उसकी विभीषिका का प्रत्यक्ष प्रमाण देना चाहते हैं। अपनी-अपनी सुख-सुविधा के लिए जिन लोगो ने लोकजीवन को स्वार्थो का प्रयोग-क्षेत्र बना लिया है उन लोगो का यह कुकृत्य अणु-परीक्षण से कम भयानक नही है। इसका भी नैतिक विरोध करने के लिए कौन बलिदान देने को तैयार है ?

धुरीहीनता के खिलाफ आवाज साहित्य-क्षेत्र से उठी है, अतएव, सबसे पहिले उसके नैतिक विरोध की आशा यही से की जाती है। जो उच्चकोटि के श्रमजीवी सर्वहारा साहित्यकार हैं वे मानो धुरी-हीनता का विरोध करने के लिए ही अपना तिल-तिल बलिदान देते आ रहे हैं, उनके अगुआ थे प्रेमचन्द। अब कालेजो और

विश्वविद्यालयों के अध्यापकों तथा प्रकाशकों को भी कुछ त्याग करना चाहिये। पाठ्यपुस्तकों के रूप में अध्यापक साहित्य का व्यवसाय न करें, जो केवल शुद्ध साहित्यिक हैं उनकी भी रचनाओं से छात्रों को लाभान्वित होने दें। यदि व्यवसाय के विना काम नही चलता हो तो अधिक वेतन पाने वाले अध्यापको की आय में कटौती करा कर अपना वेतन बढ़वाना चाहिये। प्रकाशको से निवेदन है कि वे आर्थिक लोभ के वशीभूत होकर निम्न कोटि की पुस्तकें न प्रकाशित करें, निरे उपाधिधारी और प्रतिभा-शून्य लेखको की सख्या न बढावें। लन्दन और न्यूयार्क के प्रकाशको की तरह धनाढ्य बन कर वे क्या करेंगे, पूँजीवाद आगे चलने वाला नही है। ऐसी माया के लिए राम को छोडना बुद्धिमानी नही है।

अध्यापको और प्रकाशको से त्याग का निवेदन करना शायद अरण्य-क्रन्दन है। तो क्या हम नयी पीढी से अपनी बात कहें? प्रेमचन्द जी ने अपने एक पत्र में लिखा था—"मुझे अपने दोनो लडकों के विषय में कोई बडी लालसा नही है। यही चाहता हूँ कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हों। विलासी, धनी, खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नही चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला-भर घी और मामूली कपडे मयस्सर होते रहें।"—इन शब्दों में वह महान तपस्वी साहित्यकार अपने दो लडकों के लिए ही नही, बल्कि सारी नयी पीढी के लिए आदर्श उपस्थित कर गया है। क्या नयी पीढ़ी

प्रेमचन्द जी को मौखिक श्रद्धाञ्जलि देकर ही सन्तुष्ट हो जायगी, क्या उनके आदर्श के लिए जीवन नही देगी ? युग-निर्म्माण के लिए साधना नही करेगी ?

त्याग, तप, साधना, ये सब मध्ययुग की चीजें बनती जा रही है। किन्तु अभी कल तक गान्धी जी के नेतृत्त्व में, स्वाधीनता-सग्राम (सत्याग्रह) के दिनो में राष्ट्रीय व्यक्तियो ने त्याग और साधना का परिचय दिया था। आज जब कि उनमें भी भ्रष्टाचार फैल गया है, स्वाधीनता के बाद तप, त्याग और साधना का स्थान साहित्यिको के सिवा और कौन लेगा ?

काशी,

४।७।५७

उद्योग और आत्मयोग

विगत २७ अप्रैल को प्रयाग में, उत्तरप्रदेशीय शिक्षा-अधिकारी संघ के आठवें अधिवेशन में, मुख्यमन्त्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी ने कहा था—"शिक्षा का रूप ऐसा होना चाहिये कि उससे मस्तिष्क एव समस्त मानवीय गुणो का पूर्ण विकास हो सके, विद्यार्थी एक आदर्श नागरिक बन सके। इसके लिए उच्च पारिवारिक स्तर और पारिवारिक अनुशासन की आवश्यकता है।"

माननीय मुख्यमन्त्री ने पारिवारिक रूप में शिक्षा और सस्कृति का मर्म्मकेन्द्र इङ्गित कर दिया है। शिक्षा का आर्थिक पक्ष भी उनके सामने है। वे अभिभावको की यह माँग स्वीकार करते है कि ऐसी प्राविधिक या व्यावहारिक शिक्षा, जिससे अर्थोपार्जन हो सके, दी जानी चाहिये। किन्तु इतने से ही शिक्षा का मूलभूत उद्देश्य पूरा नही हो जाता। उनका कहना है कि विदेशो में जहाँ शिक्षा का स्तर ऊँचा है और जहाँ का समाज शिक्षित और धनी है वहाँ के विद्यार्थियो में (विशेपकर उन विद्यार्थियो में जो सम्पन्न परिवार के है) अपराध की प्रवृत्ति अधिक है। यह क्यो?— वहाँ पारिवारिक शिक्षा और अनुशासन का स्तर गिर गया है।

मुख्यमन्त्री ने विदेशो की जो अवपतित सामाजिक स्थिति सूचित की है, वही स्थिति हमारे देश में भी है। आज कोई भी

देश सुसस्कृत नही है। इसका कारण? सभी देशो का जीवन अर्थप्रधान हो गया है। चाहे शिक्षा हो, चाहे कोई अन्य अध्यवसाय, सब कुछ आर्थिक व्यवसाय (रोजगार) बन गया है। इस अर्थलुब्ध युग में पारिवारिक सौहार्द और स्वाभाविक आत्मानुशासन का सवत्र अभाव हो गया है। परिवार टूटते जा रहे है, व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धी बनता जा रहा है। उसमे उदारता नही, क्षुद्रता है, सामाजिकता नही, व्यक्तिगत स्वार्थपरायणता है, आत्मीयता नही, अहकारिता है। सभ्यता के नाम पर जो थोडी-बहुत शिष्टता शेष है वह भी केवल धोखे की टट्टी है। सभी की भीतरी मुखाकृतियाँ स्वार्थ से विकराल हैं।

एक ऐसे युग में जिसमें अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, सबके जीवन का मानदण्ड आर्थिक स्वार्थ हो गया है, उस युग में हम किसे उत्कृष्ट कहें किसे निकृष्ट! शिक्षित कहे जाने वालो का भी मानसिक स्तर उतना ही निम्नकोटि का है जितना अशिक्षित जनता का। किसी में भी शील नही, सलीका नही, उचित-अनुचित का विवेक नही, सामाजिक स्पन्दन नही। एक शब्द में, जीवन की रचनात्मक चेतना नही। सभी श्रेणियो का जीवन येन-केन-प्रकारेण केवल अर्थोपार्जन में केन्द्रित हो गया है। सच तो यह कि औद्योगिक योजनाओ के रूप में आर्थिक प्रयास के अतिरिक्त, चेतना के उभार और प्रसार के लिए कोई अन्य रचनात्मक क्षेत्र भी नही है। उसके लिए न तो प्रेरणा है और न रुचि। आर्थिक दाँव-पेंच के बाद जो समय बचता है वह या तो सिनेमा देखने में चला

जाता है या कुराफात करने में। खाली मन शैतान से बढ़ कर होता है। आर्थिक प्रयत्न के अतिरिक्त कोई मानसिक आदर्श न होने के कारण जो नैतिक अराजकता फैलती है उसी का एक प्रमाण अनुशासनहीनता है। जैसा अर्थशास्त्र होता है वैसा ही लोगों का मनोविज्ञान भी हो जाता है। आर्थिक जड़ता ही सर्वसाधारण की बौद्धिक जड़ता बन गयी है। जो लोग आत्मविस्मृत हैं, अचेतन हैं, उनसे अनुशासन की क्या आशा की जा सकती है! अभिभावकों में जो जड़ता लौहदण्ड से दबी हुई है वही छात्रों में उद्दण्ड होकर खुल खेलती है। इन अभिभावकों और शिक्षकों को अनुशासित कौन करे? अनुशासन की क्षमता न अभिभावकों में है और न शासकों में, सभी तो एक यान्त्रिक जीवन-प्रणाली के निर्जीव कल-पुर्जे हैं। वे स्वतः तो सञ्चालित नहीं हो सकते और उनका कोई अन्तःस्फूर्त सञ्चालक भी नहीं है। चाहे छात्र हो चाहे अध्यापक, चाहे किसान हो चाहे मजदूर, चाहे जनता हो चाहे नेता, चाहे धार्मिक हो चाहे अधार्मिक, चाहे उच्चतम पदाधिकारी हो चाहे निम्नतम कर्मचारी; किसी में भी संवेदन नहीं, प्रबोधन नहीं, अन्तःस्फुरण नहीं। स्वार्थ के लिए कोई वैधानिक विवशता से बँधा हुआ हिंसक पशु है, कोई वैधानिक बन्धन को तोड़ कर उद्धत पशु। सङ्कीर्ण आर्थिक स्वार्थ में ही केन्द्रित हो जाने के कारण जीवन की अन्य अच्छी बातों की ओर किसी का भी ध्यान नहीं है। सुसंस्कृत मनुष्यत्व के लिए आर्थिक प्रवृत्ति को उदात्त बनाना होगा, स्वार्थ में ही केन्द्रित मनोवृत्ति को विकेन्द्रित करना होगा,

व्यक्ति को विस्तृत सामाजिक धरातल पर लाना होगा। किन्तु कैसे ?

प्राय बृटिश-काल की शिक्षा-प्रणाली को छात्रो की असस्कारिता का कारण बतलाया जाता है। डाक्टर सम्पूर्णानन्द कहते हैं—"यह कोई नही कहता कि इस प्रणाली के स्थान पर अमुक प्रणाली स्थापित करनी चाहिये।"

क्या सचमुच शिक्षा-प्रणाली के परिवर्त्तन के लिए कोई व्यावहारिक सुझाव नही दिया गया ? गान्धी जी की 'बुनियादी तालीम' का क्या हुआ ? वास्तविकता यह है कि गान्धी जी की तालीम के अनुसार चलने पर शासन से लेकर शिक्षा तक की सारी व्यवस्थाएँ बदल जायेंगी। इसके लिए ससार की कोई भी सरकार तैयार नही है, क्योकि वे राजनीतिक लकीर की फकीर हैं। जनता को अपना मुरीद (मुखापेक्षी) बनाये रखना चाहती हैं।

मानवता की व्यापक समस्याओ को किसी वर्ग-विशेष की दृष्टि से नही देखना चाहिये। छात्र ही तो सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण विश्व नही हैं। मानवता, सामाजिकता, सस्कारिता की समस्या तो अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित सारी जनता के लिए एक-सी ही है। यदि छात्रो की असस्कारिता का कारण शिक्षा-प्रणाली को ही मान लें तो अशिक्षित जनता की बौद्धिक जडता का आरोप किस प्रणाली पर किया जाय ? हम तो कहेंगे, इसका उत्तरदायित्व इस वैज्ञानिक युग के उद्योगो की यान्त्रिक प्रणाली और व्यापारिक अर्थशास्त्र पर है। यन्त्रोद्योगो और व्यापारिक अर्थशास्त्र ने सबको

अपनी ही तरह संवेदन-शून्य बना दिया। न घरेलू उद्योग है, न सामाजिक सहयोग है। उत्पादन और बाजार से स्वार्थों का विनिमय हो सकता है, सुख-दुख का आदान-प्रदान नहीं। उच्च, मध्य, अधम, सभी वर्ग एक दूसरे का शोषण करके जीने का निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं। यदि औद्योगिक और आर्थिक प्रणाली नहीं बदलती तो साम्यवाद भी एक मृगजाल है। जिस निर्जीव प्रणाली से शिक्षित-अशिक्षित और अमीर-गरीब, सब एकसे ही निश्चेतन हो गये हैं उस प्रणाली के चलते यह कहना कि विदेशों में सम्पन्न वर्ग के छात्रों में अपराध की प्रवृत्ति अधिक है, युक्तिसंगत नहीं है। यह तो प्रकारान्तर से उस पुरानी धारणा को ही पुष्ट करना है कि धनाढ्य पापात्मा होते हैं और निर्धन पुन्यात्मा। अब तो दोनों ही दुरात्मा हो गये हैं।

हम प्रतिगामी नहीं हैं, सामन्त-युग और पूँजीवादी युग की विकृतियों को स्वीकार करते हैं। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति को भी नियामत नहीं मानते। पिछले युगों की विकृतियों में भी कुछ सुकृत था, तभी तो लोगों में घरेलूपन था, सामाजिक सौहार्द था, हार्दिक राग-विराग था। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने पर्व और त्यौहार की तरह, संस्कृति और कला की तरह, मनुष्य के पिछले सभी सामाजिक सम्बन्धों को भी समाप्त कर दिया। मनुष्य मशीनी और टकसाली बन गया। जिस युग में जिन्दगी फैक्टरी और बात-व्यवहार बाजारू हो गया है उस युग में मनुष्य के सचेतन सम्बन्धों (पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों) की आशा दुराशा मात्र है।

आज की स्थिति इस कहावत से स्पष्ट हो जाती है—'भैया वडा न दैया, सबसे वडा रुपैया।' जव मशीनो और टकसालो से काम चल सकता है (क्या सचमुच चल सकता है?) तो किसी को क्या गरज है कि वह मनुष्य या किसी भी प्राणी का सजीव मूल्याङ्कन करे!

मशीनो और टकसालो ने मनुष्य की चेतना को लकवा मार दिया है। वह भाव-शून्य हो गया है। उसमें न आत्मानुभूति है, न सहानुभूति। ऐसे जडजीव का क्या व्यक्तिवाद,'क्या समाजवाद' दोनो ही निष्प्राण हैं। यह कहना कि जनता के हाथ में आ जाने से मशीनो और टकसालो से सबका भला होने लगेगा, केवल मनमोदक है।

जीवन को उज्जीवित रूप में अनुप्राणित करने के लिए हमें ऐसे प्राणवन्त उद्योगो को सञ्चालित करने की आवश्यकता है जिनसे अर्थ, धर्म्म, काम, मोक्ष, सभी पुरुपार्थ सध सकें। दूसरे शब्दो मे, उद्योगो को चैतन्य वनाने की आवश्यकता है। इसके लिए कृत्रिम व्यवधानो (यान्त्रिक माध्यमो) को हटा कर श्रम और मूल्य के साथ मनुष्य या किसी भी प्राणी का सीधा सम्वन्ध स्थापित करना होगा। उद्योगो में स्वाभाविकता आ जाने से मनुष्य के सम्वन्धो में भी स्वाभाविकता आ जायगी, वह फिर सामाजिक और पारिवारिक प्राणी वन जायगा।

विटामिन की गोलियो से जैसे मनुष्य या कोई भी प्राणी अमृतपुत्र नही वन सकता, वैसे ही वैज्ञानिक उद्योगो से वह स्वस्थ-

चित्त पुरुषार्थी नही बन सकता। सुख, स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए उसे अप्राकृतिक (वैज्ञानिक) उद्योगों से प्राकृतिक (स्वाभाविक) उद्योगो की ओर उन्मुख होना होगा। कवि का परामर्श है—

'मानव हो सयुक्त प्रकृति से स्वर्ग बने भू पावन।'

प्रकृति से प्राणान्वित होकर ही मनुष्य या सृष्टि के किसी भी जड-चेतन का वहिरन्तर-विकास होगा, प्रकृति से ही उसके तन-मन का पोषण और उन्नयन होगा। क्या यह कवि-कल्पना मात्र है? क्या मध्ययुगो में गाँवो से लेकर तपोवनो तक प्रकृति की भावना साकार नही हो सकी थी?

यह प्रगतिशील युग है। इस युग में विज्ञान-द्वारा अपूर्व भौतिक उन्नति हुई है। किन्तु उसकी उन्नति एकाङ्गी ही क्यो हुई, अध्यात्म उससे छूट क्यो गया? वस्तुत उसमें प्रकृति के जड उपकरणो का ही सङ्गठन है, उपकरणो में प्रकृति का जो सजीव अन्त करण है वह उसके प्रयत्नो में समाविष्ट नही हो सका। हो भी नही सकता, क्योकि विज्ञान में प्रकृति का रसात्मकता नही है। भौतिक रूप में उसने जो उन्नति की है उसे एकाङ्गी कहने में भी सङ्कोच होता है, क्योकि मनुष्य पञ्चभूतो का स्पन्दनशील शरीर भी नही बन सका, वह तो कृत्रिम रहन-सहन का पुतला हो गया।

विज्ञान के पास गति है, गन्तव्य नही है। जिनके सात्त्विक सस्कार इस वैज्ञानिक युग में भी सर्वथा लुप्त नही हो गये हैं वे विज्ञान को अध्यात्म की ओर अभिमुख करना चाहते हैं। किन्तु अध्यात्म के लिए एक ऐसे पञ्चभौतिक जीवन की आवश्यकता है

जो शरीर की तरह ही अकृत्रिम एव नैसर्गिक होकर अपनी सजीवता से अध्यात्म का स्वत उद्रेक कर सके।

विज्ञान ने भौतिकता को निर्जीव रूप में उपस्थित किया है, इसीलिए भौतिकता और आध्यात्मिकता दो भिन्न चीजे जान पडती हैं, किन्तु दोनो अभिन्न हैं। प्रकृतिस्थ दृष्टि से देखने पर दोनो एक ही चीज़ जान पडेंगी। इनमें ब्रह्मचर्य्य से लेकर सन्यास तक के आश्रमो की तरह स्थिति-भेद (क्रम-भेद) हो सकता है, किन्तु अन्तर्भेद नही। एक ही प्राणित्त्व जो स्थूल रूप में भौतिक हो जाता है, सूक्ष्म रूप में अध्यात्म हो जाता है। अध्यात्म सजीव भौतिक तत्त्वो का सत्त्व है। भौतिक तत्त्व शरीर की तरह सङ्गठित होकर भी सत्त्वलाभ करते हैं और 'क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा' की तरह विरल-विरल होकर भी। यह तभी सम्भव है जब उनमें प्रकृति की सजीवता हो, नैसर्गिकता हो, सचेतन शक्ति हो, न कि विज्ञान की निर्जीव वास्तविकता या पदार्थप्रवणता। हमारे यहाँ धार्म्मिक चित्रो और मूर्त्तियो में प्रकृति की सचेतनता की पूजा साकार रूप में भी की गयी है और पञ्चभूतो के विरल सजीव रूप (क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा) में भी। वेदो और उपनिषदो में इनकी प्रशस्ति देखी जा सकती है। यह कहना घोर अज्ञान है कि जीवन के साधनो के अभाव में प्रकृति से भयभीत होकर उसकी अर्चना और अभ्यर्थना की गयी थी। प्रकृति की इस उपासना मे एक कृतज्ञ जीवन-दर्शन है।

वैज्ञानिक युग में गान्धी जी प्राकृतिक जीवन और ग्रामोद्योगो-

द्वारा ऐसी ही पञ्चभौतिक साधना को अग्रसर करना चाहते थे जिससे शरीर और आत्मा दोनो का परिपोषण हो सके, मनुष्य ही नही, सचराचर सृष्टि के साथ सह-अस्तित्व स्थापित हो सके। उनके कर्म्मयोग में प्रकृति की वह 'आर्द्रान्तरात्मा' थी जो उद्योग से लेकर आत्मयोग तक, सब कुछ जीवन्त कर देती थी। वही अन्तरात्मा, वही द्रवित अन्तश्चेतना व्यक्ति से लेकर विश्व तक मर्म्मविन्दु वन कर जव सिन्धुवत् विस्तृत हो जाती है तव भौतिकता, नागरिकता, मानवता, पारिवारिकता, सामाजिकता, सस्कारिता, आध्यात्मिकता, सब देश-काल-पात्र के अनुसार विविध होते हुए भी एक ही उदात्त अन्तर्वृत्ति की अनेक आवृत्तियाँ जान पडने लगती है—

'विविध द्रव्यो में विविध प्रकार
एक ही मर्म्म-मधुर झङ्कार।'

एक को साध लेने पर सबकी साधना का सूत्र मिल जाता है।

गान्धी जी ने अपने रचनात्मक कार्य्यों में प्राकृतिक जीवन-दर्शन का जो व्यावहारिक कदम रखा था वह तभी सफल हो सकता है जव भारत ही नही, सभी देश उसके लिए सन्नद्ध हो जायें, क्योकि सम्प्रति आर्थिक दृष्टि से कोई भी देश आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र नही है। वर्त्तमान विवशता राजनीति के कारण है। ऐसी स्थिति में यही उपाय हो सकता है कि खादी और सत्याग्रह की तरह स्वावलम्वन का सम्वल लेकर सभी देशो की जनता सरकारो से विमुख हो जाय, या, सरकारें स्वय अपनी दूरदर्शिता से जनता की ओर उन्मुख हो जायें। वर्त्तमान स्थिति अधिक दिनो तक नही

चल सकती। समय पञ्चशील और निःशस्त्रीकरण के लिए पुकार रहा है। पञ्चशील और निःशस्त्रीकरण से ही वह वातावरण प्रस्तुत होगा जिससे मनुष्य कर्त्तव्य-बोध के लिए प्रकृतिस्थ हो सकेगा। यदि क्षुद्र आर्थिक स्वार्थों से मदान्ध होकर समय की पुकार अनसुनी कर दी गयी तो जनता में अराजकता फैल जायगी, फैल रही है। भीतर गृह-युद्ध चल रहा है, बाहर अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर शीत-युद्ध (आतङ्क-युद्ध) चल रहा है, अणु-बमों के परीक्षण से प्रकृति को विकृत किया जा रहा है। इस तरह तो बिना तीसरे युद्ध के ही सृष्टि का संहार हो जायगा। समय रहते ही सचेत हो जाना चाहिये।

काशी,

२८।५।५७

लोककला का आधुनिकीकरण

एक व्याख्यान में नेहरू जी ने कहा था—कुछ लोग लोककला का आधुनिकीकरण करने का विचार रखते हैं, किन्तु इससे लोककला की स्वाभाविकता और सरसता नष्ट हो जायगी।

लोककला के आधुनिकीकरण का क्या अभिप्राय है, उसका क्या रूप है? इस सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नही है, किन्तु ऐसा समझा जाता है कि सरकार जो पञ्चवर्षीय योजनाएँ चला रही है उन्ही के साँचे में ढाल कर लोककला (गान, वाद्य, नृत्य) को भी प्रचार का साधन बना दिया जाय। ऐसा तो सभी सरकारें करती हैं। दूसरे महायुद्ध के समय बृटिश सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी ने भी लोककला का ऐसा उपयोग किया था। फिर नेहरू जी, जो स्वय आधुनिक युग की उपज हैं, लोक-कला के आधुनिकीकरण से क्यो सहमत नही हैं? कदाचित् उनका अभिप्राय यह है कि कला को जनता के जीवन से, उसकी स्वत -प्रेरणा से प्रस्फुटित होना चाहिये, किसी ऊपरी प्रचार या प्रभाव से नही। यदि नेहरू जी का दृष्टिकोण यही है तो कहना होगा कि वे कला के मर्म्म को सही समझते हैं। फिर भी उनके साध्य और साधन में कितना अन्तर है! खादी वे पहनते हैं, किन्तु उसके अर्थशास्त्र को क्या गान्धी जी की तरह महत्त्व दे पाते हैं? खादी क्या

परतन्त्र भारत की एक विवशता थी, क्या उसकी स्थायी उपयोगिता नही है?

सम्प्रति जनता आधुनिक युग में आ गयी है, किन्तु सचाई यह है कि दो महायुद्धो के वाद भी वह मध्ययुग में निवास कर रही है। रेल पर, 'वस' पर उसका शरीर चल रहा है, मन वैलगाडी पर चल रहा है, वह पुरागामी है। चुनाव में दो वैलो की जोडी रख कर काग्रेस भी क्या इसी लोकदृष्टि का प्रतिनिधित्त्व करती है? ऐसा तो नही जान पडता, क्योकि काग्रेसी सरकारें वैज्ञानिक विशेपज्ञो की सहायता से वडे-वडे यन्त्रोद्योगो की स्थापना कर रही हैं। चुनाव के चिह्न में दो वैल तो जैसा देश वैसा वेप की तरह हैं। कम्युनिस्टो के हँसिया-हथौडा भी तो ऐसे ही राजनीतिक टैक्ट हैं।

वास्तविकता यह है कि जनता आधुनिकता को आत्मीयता की दृष्टि से नही देखती। रेल को वह सौत समझती है जो उसके प्रियतम को परदेस भगाये ले जा रही है। फिर वह सोचती है, प्रियतम यदि न जाना चाहे तो रेल उसे कैसे ले जा सकती है। वह क्यो जाता है? पैसे की आवश्यकता उसे जाने के लिए विवश कर देती है। निष्कर्ष यह कि लोकजीवन स्वावलम्वी नही है, स्वतन्त्र नही है। सरकार कहती है, जनता को प्रत्येक वात के लिए सराकर का मुँह नही जोहना चाहिये। किन्तु टकसालें तो सरकार के हाथ में हैं, वही लोकजीवन को अपना मुखापेक्षी वनाती हैं। तरह-तरह की पार्टियो और नेताओ का जन्म होता

है जनता को जीवन देने के लिए, किन्तु स्वर्ग का प्रलोभन देनेवाले धार्म्मिक ठेकेदारो की तरह ही ये आर्थिक ठेकेदार भी जनता को कोई जीवन नही दे पाते (अपनी प्रवञ्चना से स्वय भले ही जीवन पा जाते हो !)

जनता को स्वावलम्वी वनाने का प्रयत्न गान्धी जी ने किया था। उन्होने कहा था, कृपि और कुटीर-शिल्प से प्रत्येक व्यक्ति अपनी टकसाल आप वन जाय। गान्धी जी का वह स्वप्न क्या हुआ ! आज हम जिन लोककलाओ का उपभोग करते है उनका प्रादुर्भाव मध्ययुग की कृषि और कुटीर-शिल्प से ही हुआ था जिनकी परम्परा पूँजीवाद की आरम्भिक औद्योगिक क्रान्ति के युग तक वनी हुई थी और आज खादी की तरह एक रूढ रूप में शेष रह गयी है। यदि कृपि और कुटीर-शिल्प का स्वाभाविक वातावरण नही मिलेगा तो कला की स्वाभाविकता और सरसता कव तक अक्षुण्ण रह सकेगी ? वह तो रङ्गमञ्च का क्षणिक प्रदर्शन वन जायगी।

मध्ययुग को सामन्त-युग कहा जाता है। तो क्या लोककलाएँ भी सामन्तवाद की देन है ? नही, जैसे गान्धी जी पूँजीवाद की उपज नही थे वैसे ही लोककलाएँ भी सामन्तवाद की उपज नही थी। वे तो जन-स्वावलम्वन से स्वत नि सृत हुई थी। जनता का जीवन टकसालो में नही, समाज में ढल रहा था, इसीलिए लोककलाओ मे हार्दिक सजीवता है। यदि हमें लोककलाएँ अभीष्ट है तो उन्हें पनपने के लिए उनके अनुरूप औद्योगिक वातावरण मिलना चाहिये। क्या हम कला (साथ ही सस्कृति) और उद्योग

के इस अन्योन्य सम्बन्ध को जोडने का प्रयत्न कर रहे है ? यदि नही तो हमारा यह कलानुराग निराधार है, निरा ढोग है। गान्धी जी लोककला के प्रतीक गरबा-नृत्य को बहुत पसन्द करते थे, इससे उनके कर्म्मश्रान्त जीवन को विश्राम मिलता था। गान्धी जी को इस रुचिकर विश्राम का अधिकार था, क्योकि वे लोक-कला को तदनुकूल औद्योगिक आधार दे रहे थे, केवल उससे मनोरञ्जन नही करते थे। जिसका पोषण नही कर सकते उससे केवल मनोरञ्जन करना विलासिता है।

आज के वैज्ञानिक युग में जब कि गाँवो का आधुनिकीकरण हो रहा है, तब भला लोककलाओ की मौलिकता कैसे सुरक्षित रह सकती है ? कहा जा सकता है कि आधुनिक युग की जनता नये वातावरण के अनुरूप नयी लोक-कलाओ की सृष्टि कर लेगी। क्या जनता में वह जनत्त्व शेष रह जायगा जिससे उसे स्वान्त सुखाय रचना की शक्ति और स्फूर्त्ति मिलती रही है ? अब तो उसके पर्व्व और त्यौहार भी फीके होते जा रहे है। कहाँ है वह दीवाली, कहाँ है वह होली ?

गणतन्त्र-दिवस और स्वतन्त्रता-दिवस के अवसर पर नगरो में, राजधानियो में हम जिन लोककलाओं का प्रदर्शन करते हैं वे तो केवल नुमाइशी तमाशा है। आधुनिकीकरण किये विना ही उन प्रदर्शनो से लोक-कलाओ का स्वाभाविक सामाजिक क्षेत्र कृत्रिम रङ्गमञ्च में परिणत होता जा रहा है। जैसे नाटकीय रङ्गमञ्च का यन्त्रीकरण हो गया वैसे ही कभी इन लोक-कलाओ का भी

यन्त्रीकरण हो जायगा, हो रहा है। सिनेमा से नाटको का, रेडियो से सङ्गीत का जैसे उत्थान नही हो सकता, वैसे ही नागरिक प्रदर्शनो से लोककलाओ का भी उत्कर्ष नही हो सकता। जिन्हें प्राचीनता से अनुराग है वे अब सिनेमा से नाटको की ओर, रेडियो से सङ्गीत-गोष्ठियो की ओर प्रत्यावर्त्तन कर रहे है। किन्तु क्या इससे कला का अतीत-काल वापस आ जायगा? यदि उसके लिए वैसा ही आर्थिक आधार नही मिलेगा तो वह प्रत्यावर्त्तन आधुनिकता के प्रति एक तात्कालिक असन्तोष मात्र बन कर रह जायगा।

गान्धीवादी सुधारको का कहना है कि नगरो में लोककलाओ का प्रदर्शन देखने की अपेक्षा ग्रामीणो के जीवन में घुलमिल कर इन कलाओ का स्वारस्य प्राप्त करना चाहिये। गाँव का अर्थ है प्रकृति का कर्म्मक्षेत्र, ग्रामीण जीवन का सङ्केत है नैसर्गिक जीवन—

"रङ्गप्राण रे प्रकृति-लोक यह
यहाँ नही दुख-दैन्य अमङ्गल,
यहाँ खुला चिर शोभा का उर,
यहाँ कामना का मुख उज्ज्वल।"

कला या ग्रामोद्योग किसी भी सजीव माध्यम से गाँवों के जीवन से समरस और सहकर्म्मी हो जाने में ही लोक-कल्याण है।

काशी,
१६।४।५७

सांस्कृतिक चेतना

भूदान के लिए पैदल यात्रा करते हुए जब विनोबा जी काशी आये थे तब विदा के पहिले उन्होने यहाँ स्वच्छता-आन्दोलन का आरम्भ किया था। स्वय हाथ मे झाड़ू और टोकरी लेकर नागरिको की मण्डली के साथ गलियो को झाडा-बुहारा था। ऐसा जान पडता था कि लोगों में सास्कृतिक चेतना आ गयी है, अपने शरीर की तरह ही चारो ओर के वातावरण को भी स्वच्छ कर वे उसे जाग्रत जीवन का परिवेश बना देंगे। किन्तु इसके बाद क्या हुआ ? वही गन्दगी, वही मलिनता, वही जडता, ज्यो की त्यो बनी रह गयी। आश्चर्य्य है कि शरीर में मल-मूत्र के उद्वेग को न सह सकने वाला मनुष्य अपने चारो ओर के दूषित वातावरण को कैसे सह लेता है ? दूषित वातावरण का अनुभव करने और उसे शुद्ध कर देने के लिए विवेक और आचरण की आवश्यकता है, किन्तु कीडे-मकोडो और पशुओ की तरह मनुष्य भी ऐसा देहपिण्ड मात्र बन गया है कि वह इन्द्रियो से ही काम ले सकता है, अपनी चेतना (अन्त सज्ञा) से नही। यदि मल-मूत्र के निक्षेप के लिए भी उसे ऐन्द्रयिक विक्षोभ की अपेक्षा विवेक से काम लेना पडता तो वह उसे शरीर में ही सञ्चित किये रहता। चेतना के अभाव में यह नही अनुभव करता कि मल-मूत्र का विषभण्ड बन जाने से

जैसे शरीर अस्वस्थ एव मृतप्राय वन जाता हे वैसे ही दूपित वातावरण से जीवन भी रुग्ण और नारकीय हो जाता है।

शारीरिक रुग्णता की तरह ही आज देश मे सास्कृतिक रुग्णता (निश्चेतनता) भी फैली हुई है। इन्द्रियो की विकलता से लोग शारीरिक रुग्णता का अनुभव कर लेते हैं, किन्तु चेतना के अभाव में सास्कृतिक रुग्णता का अनुभव नही कर पाते। देश में साहित्य, सस्कृति और कला की अनेक सस्थाएँ है किन्तु वे वैसे ही परोपकारी हैं जैसे आज-कल के खैराती अस्पताल।

पराधीनता के युग में (वृटिश-काल में) देश की सास्कृतिक चेतना नही जग सकी, जग भी नही सकती थी, क्योकि विदेशी शासन अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जनता की चेतना को कुण्ठित कर उसे अपना दास वनाये रखना चाहता था। किन्तु हम देखते है कि देश के स्वाधीन हो जाने पर भी जनता की चेतना नही जग सकी है। उसमें इन्द्रियो का विक्षोभ ही नाना रूप में व्यक्त हो रहा है—चोरी, गुडई, डाका, हडताल, भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता। सरकार अपनी शासन-शक्ति से इस विक्षोभ को शान्त करने में लगी हुई है। लोगो की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए पञ्चवर्षीय योजना चला रही है। किन्तु क्या इस से वाह्य विक्षोभ शान्त हो जायगा? आवश्यकता है सास्कृतिक कार्य्यक्रम-द्वारा जनता की जड़ता दूर करने की। उसके लिए क्या किया जा रहा है?

सरकार समय-समय पर गान-वाद्य-नृत्य-नाट्य के रूप में सास्कृतिक कार्य्यक्रम भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती है। क्या यही

पीढी में नयी सभ्यता अंग्रेजी रहन-सहन की भद्दी नकल बन गयी। अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली ने जैसे हमारा मौलिक संस्कार बदल दिया, वैसे ही अंग्रेजी रहन-सहन ने दैनिक आचार भी बदल दिया। यहाँ तक कि मल-मूत्र का विसर्जन भी अंग्रेजी तरीके से किया जाने लगा। अंग्रेजी पढ़ कर जैसे हम अंग्रेज नही हो सकते, वैसे ही अंग्रेजी तौर-तरीके से भी अंग्रेज नही बन सकते।

क्या जब विदेशी भी हिन्दी की तरह ही भारतीय आचार-विचार को महत्त्व देंगे और यहाँ के कुरते-धोती की तरह उसे अपनायेंगे तभी उसकी सांस्कृतिक श्रेष्ठता सिद्ध होगी?

मशीनो के लिए जैसे देवनागरी लिपि को बिगाडा जा रहा है वैसे ही यन्त्रयुगीन सुविधा के लिए अपने आचार-विचार को भी (इसे ही सुधार कहा जाता है!) शीशे के गिलास, चाय के चीनी प्याले, आलमोनियम और तामचीन के बर्त्तनो से भारतीय आचार-विचार नष्ट होता जा रहा है, मनुष्य सुविधाओ का दास बनता जा रहा है, गार्हस्थ्य बाजारू बनता जा रहा है।

देसी गिलास और मिट्टी के सकोरो और बर्त्तनो से शुद्धीकरण की भावना और संस्कृति की सात्त्विकता जगती है। भारतीय आचार-विचार प्रकृति के सम्पर्क में मनुष्य का बहिरन्तर परिष्कार है। यद्यपि विभिन्न भाषाओ के व्याकरण और छन्द की तरह प्रत्येक देश के आचार-विचार में अन्तर है किन्तु भारत का आचार-विचार एकदेशीय नही है, वह देवनागरी लिपि की तरह ही विशुद्ध और वैज्ञानिक है। उसे रूढ़िगत जडता में नही, जागरूक क्रियाशीलता में देखना चाहिये।

अग्रेजी शिक्षा और अग्रेजी रहन-सहन को नयी पीढी ने फैशन की तरह अपना लिया, किन्तु उसके सबसे बडे गुण नागरिकता को छोड दिया। सिनेमा देखना, लडकियो से छेडछाड करना, हुल्लड मचाना, सडक पर बेकायदे चलना, इधर-उधर थूक देना, राह में फलो के छिलके और सिगरेट के खाली पैकेट फेंक देना, ऐसी ही न जाने कितनी लापरवाही और गैरजिम्मेदारी नयी पीढी की नौजवानी बन गयी है। जो नवयुवक विदेशो में शिक्षा प्राप्त करने जाते है वे अपने आचरण से भारत का मस्तक ऊँचा नही करते, लौट कर वहाँ से अच्छी आदतें भी नही लाते।

किसी भी देश की सस्कृति की पहिचान उसकी नागरिकता है। नागरिकता से ही स्पष्ट हो जाता है कि किसी देश का मनुष्य कहाँ तक विधि-विधानो से बँधा हुआ पशु है और कहाँ तक अपने विवेक से सञ्चालित सामाजिक प्राणी। हमें खेदपूर्वक स्वीकार करना पडता है कि हमारा देश केवल शासित पशुता का बहुत बडा जगल है। अग्रेज इस देश को इसी रूप में छोड गये। दूसरे युद्ध के बाद अकाल और निर्धनता से यहाँ की वस्तुस्थिति उत्तरोत्तर उघरती जा रही है। देशवासी केवल अपना-अपना पेट भरने के लिए ही हाथ-पाँव मार रहे है, सरकार उनका पेट भरने के लिए चिन्तित है और तरह-तरह की योजना बना रही है। जहाँ जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओ से ही मनुष्य अभी ऊपर नही उठ सका है वहाँ मनुष्यत्व का विकास (नागरिकता और सामाजिकता) तो दूर का स्वप्न है। स्वार्थपूर्ति के अतिरिक्त

किसी भी वर्ग को और कुछ नहीं सूझता। देश का आर्थिक भ्रष्टाचार तो दिखाई देता है, किन्तु सामाजिक पतन और सास्कृतिक भ्रष्टाचार नही दिखाई दे रहा है। भीतर की आँखें मुँदी हैं। जो लोग साहित्य, सस्कृति और कला की बडी-बडी बातें करते है वे आँख से अन्धे और वाणी से वाचाल है। उनकी वाणी कपट-कतरनी है। न जनता में न नेताओ में, न राज-कर्म्मचारियो और पदाधिकारियो में, किसी में भी सामाजिकता नही, नागरिकता नही। किसी अन्य देश में है या नही, यह भी एक चिन्तनीय प्रश्न है। जिस युग में चारो ओर आर्थिक सघर्प (स्वार्थ-सघर्ष) मचा हुआ है उस बर्व्बर-युग में किसे निकृष्ट कहें, किसे उत्कृष्ट ?

सरकार की ओर से कभी-कभी विदेशो में सास्कृतिक शिष्ट-मण्डल भेजा जाता है। जिनमें स्वय कोई सास्कृतिक चेतना नही है वे विदेशो को क्या सिखा सकते है या वहाँ जाकर क्या सीख सकते है ? यह सब क्या समय और साधन का अपव्यय नही है ?

भारत की औद्योगिक शिक्षा के लिए विदेशो से प्राविधिक विशेषज्ञ बुलाये जाते हैं। तो क्या सास्कृतिक शिक्षा के लिए भी वही से विशेषज्ञो को बुलाना पडेगा ? यह सब कैसी विडम्बना है ? कैसी मानसिक दासता है ?

क्या गान्धी जी के पथ-प्रदर्शन से भारत ने कोई अपना औद्योगिक और सास्कृतिक निर्देशन नही पाया ? हमें तो नवनिर्म्माण के लिए भारत का मौलिक व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व चाहिये—

"जागो हे स्वाधीन चेतने !
जन-मन-शौर्य्य जगाओ;
भारत की आलोक-शिखे !
नवयुग के चरण बढ़ाओ।"

इस भ्रष्टाचार के युग में आर्थिक शुद्धि के लिए जैसे प्रत्येक व्यक्ति को कर्म्मठ बनने की आवश्यकता है वैसे ही सांस्कृतिक शुद्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति को आचार-विचार का साधक।

काशी,

रचनात्मक योजना

नागरिकता के रूप में हमें जो सामाजिक चेतना अभीष्ट है उसे 'सस्कारिता' कहने से नागरिकता का आन्तरिक उद्देश्य सुस्पष्ट हो सकता है। नागरिकता में पारस्परिक स्वार्थों का सामूहिक सङ्गठन है (स्वार्थ-भङ्ग होने पर यह सङ्गठन टूट जाता है, सभ्य भी असभ्य हो जाता है), किन्तु सस्कारिता में सामाजिक चेतना का अन्त प्रस्फुटन (सास्कृतिक स्पन्दन) है, मनुष्य स्वार्थ की बलि देकर भी लोककल्याण करता है। मनुष्य बाहर से अनुशासित होकर नही, बल्कि अपने भीतर से स्वत प्रेरित होकर कर्त्तव्य करता है। सस्कारिता में अन्तश्चेतना (अन्त सज्ञा) की साधना है। इन्द्रियों की क्रियाओ से जब इस साधना का सयोग हो जाता है तब हमारी प्रत्येक कृति सस्कृति (सचेतन कृति) बन जाती है। मनुष्य के सभी कार्य्यों और घर-बाहर सभी स्थानों में अन्त करण (अन्तर्निर्म्माण) का दर्शन मिलने लगता है। सम्प्रति सस्कारिता के अभाव में मनुष्य के यावत् कृत्य इन्द्रियो के निश्चेष्ट प्रयास मात्र रह गये हैं, मानो उसकी क्रियाशीलता विकलाङ्ग हो गयी है। उसकी रहन-सहन और जीवन में कोई सुसङ्गति नही, सुरुचि नही, सौन्दर्य्य नही। नागरिक रूप में मनुष्य केवल वैधानिक पशु रह गया है।

विधि-विधानो से बँध कर ही मनुष्य सुसस्कृत नही हो सकता, जब तक कि वह अपने भीतर से सुज्ञ न हो जाय। मनुष्य को अन्त सुज्ञ बनाने के लिए उसमें कर्म्म का सौन्दर्य्यानुराग जगाने की आवश्यकता है। नाना तरीको से उदरम्भरि पशु बन कर जनता को केवल खाने-कमाने का ही अभ्यास नही करना है, बल्कि खाना-कमाना जिस जीने के लिए हैं उस जीने की कला भी उसे सीखनी है। कर्म्म में सौन्दर्य्य के अनुराग से (कार्य्य के सुचारु सम्पादन की सद्वृत्ति से) ही मनुष्य अपने जीवन की कला पा सकेगा।

प्रति दिन की छोटी-मोटी बातो से ही हमें नागरिको में संस्कारिता जगानी है। ये बातें छोटी भले ही मालूम हो, किन्तु ये बडी-से-बडी बातो से भी बड़ी है। ये उस बीज की तरह हैं जो अपने छोटेपन में ही बृहद विकास का मूल छिपाये हुए है। यदि एक छोटी-सी आदत में भी सुरुचि का समावेश हो जायगा तो वही हमारे सभी कार्य्यों में जीवन की शैली बन कर ढल जायगी, मनुष्य चेतना का शिल्पी बन जायगा।

प्रति दिन की छोटी-मोटी बातो को छोड कर न मालूम लोग सस्कृति को कौन-सी भारी-भरकम अलौकिक चीज समझ बैठे हैं! यदि हमारे दैनिक जीवन में उसका परिचय नही मिलता तो वह व्यर्थ है, बौद्धिक महन्तो का गुरुडम है, पाखण्ड है, दम्भ है, छलछद्म है।

दैनिक जीवन की छोटी बातो में शुचिता और सुरुचि के समावेश से ही सस्कृति बनती है। -बडे-बडे आदर्श इन्ही छोटी-छोटी बातो के उत्कर्ष हैं, जैसे बिन्दुओ का पारावार समुद्र। जो लोग केवल

भारी-भरकम रूप में संस्कृति का आडम्बर खडा करते हैं वे तिल का ताड बनाते है। गुरुडम से अलग करके सहज रूप में हृदयङ्गम करने के लिए संस्कृति को 'जन-संस्कृति' कहा जा सकता है। जन-संस्कृति ही शिक्षा का अन्तरङ्ग अथवा नागरिकता की मूल आत्मा (बुनियादी आधार) बन सकती है।

शुचिता, शिष्टता, सहृदयता, सेवा, सुव्यवस्था में ही मनुष्य की व्यक्तिगत और सार्वजनिक सार्थकता है। जन-संस्कृति का लक्ष्य मनुष्य को इन्ही सद्‌गुणो का साधक बनाना है।

इस संस्कृति के सञ्चार और प्रसार के लिए किसी एक नगर मे अखिल भारतीय स्तर पर सांस्कृतिक शिक्षण का प्रयोग किया जा सकता है। वहाँ से प्रशिक्षित होकर कार्य्यकर्त्ता अन्य स्थानो मे कार्य्य कर सकते हैं। किन्तु सांस्कृतिक शिक्षण का कार्य्यक्रम छुट्टी के दिनों मे समय काटने के लिए हाथ मे झाडू लेकर स्वच्छता का और फावडा लेकर श्रम का उत्साह-प्रदर्शन करने से टिकाऊ नही हो सकता। इसे भूख-प्यास और साँस की तरह अनिवार्य्य रूप मे अनुभव करके ही प्राणान्वित किया जा सकता है। प्राकृतिक प्रेरणा की तरह ही अङ्गीकार कर लेने से संस्कृति भी स्वाभाविक प्रेरणा बन सकती है।

यो तो समाज की सभी श्रेणियो के मनुष्यो को सांस्कृतिक शिक्षण की आवश्यकता है तथापि तात्कालिक दृष्टि से इसका प्रारम्भ छात्र-छात्राओ में किया जा सकता है। छात्र-छात्राओं द्वारा अर्जित संस्कार परिवार में, परिवार-द्वारा समाज में फैलेगा

जन-संस्कृति को सजीव करने के लिए स्कूलो-कालेजो की स्काउटिंग को ही नवीन रचनात्मक रूप देना है। जहाँ स्काउटिंग नही है वहाँ सैनिक शिक्षा और पुलिस की शिक्षा में सस्कारिता का समावेश किया जाना चाहिये।

प्रशिक्षित होकर सास्कृतिक कार्य्यकर्त्ता मुहल्ले-मुहल्ले तथा आस-पास के वातावरण में रचनात्मक कार्य्य करें। नागरिको में पारस्परिक सहयोग और सद्भाव उत्पन्न करें। जरूरत पडने पर झाडू भी लगावें और मोरियाँ भी साफ करे, ताकि भगियो की हडताल से नगर नरक न वन जाय। अपेक्षाकृत शिक्षित और उच्चपदस्थ लोगो की कर्म्मण्यता से जनसाधारण में भी कर्त्तव्य की प्रेरणा जगेगी, उन्हे अपने फूहडपन से ग्लानि और लज्जा होगी।

रविवार को अथवा अन्य लम्बी छुट्टियो में मुहल्ले-मुहल्ले में नागरिको को एकत्र कर सास्कृतिक कार्य्यकर्त्ता उन्हे दैनिक रहन-सहन की शिक्षा दें, सक्रिय अभ्यास करायें।

जन-सस्कृति का प्रचार और प्रसार प्रभातफेरियो, सास्कृतिक गीतो, एकाकी रूपको, कलात्मक पोस्टरो, लैन्टर्न लेक्चरो, फिल्म-चित्रो, सुन्दर सरल सुवोध पुस्तिकाओ, रेडियो और रेलो-द्वारा किया जा सकता है। रेल के डिव्वो में सस्कारिता के मनोहर पोस्टर लगाये जा सकते है। इन सभी प्रयत्नो-द्वारा लोगो में यह विवेक उत्पन्न करना है कि असस्कृत रहन-सहन से वे दूसरो की ही नही, वल्कि अपनी भी हानि कर रहे हैं, क्योकि वे व्यक्ति नही, समाज है, समाज के दूपित होने पर व्यक्ति भी रुग्ण हो जायगा।

लोकशिक्षण के लिए नगरो में म्युनिस्पल वोर्डो, कारपोरेशनो के स्वास्थ्य-अधिकारियो और पुलिस कर्म्मचारियो के सहयोग की आवश्यकता है, ताकि इनकी जिम्मेदारियो का सार्वजनिक सदुपयोग हो सके। इसके अतिरिक्त कलाकारो, कथावाचकों और धार्म्मिक श्रद्धालुओ के भी सहयोग की आवश्यकता है। ये जनता में शौचा-शौच का विवेक जगा सकते है और सौन्दर्य्य की तरह आकर्षक, कथा की तरह रोचक, धर्म्म की तरह पवित्र पथ का निर्देश कर सकते हैं। इन्हें भगीरथ बन कर पृथ्वी पर जन-सस्कृति को प्रवा-हित करना है।

सस्कृति का कार्य्यक्षेत्र नगरो में ही सीमित न होकर देहातो तक विस्तृत होगा। नदी की धारा की तरह सस्कृति गाँव-नगर सबको सिञ्चित-पुष्पित-पल्लवित करेगी। गाँवो में सास्कृतिक कार्य्यकर्त्ता पञ्चायतो, डिस्ट्रिक्ट वोर्डो और सर्वोदय के कार्य्यकर्त्ताओं से सहयोग कर सकते है। सच तो यह कि सर्वोदय का कार्य्यक्रम ही जीवन का सम्पूर्ण कार्य्यक्रम है, उससे अर्थ-धर्म्म-काम-मोक्ष सबकी सिद्धि हो सकती है।

चाहे राजकर्म्मचारी हो, चाहे सास्कृतिक कार्य्यकर्त्ता, उन्हें जनता का स्वयसेवक वन कर काम करना है। जिस सस्कृति को वे जनता में जीवन्त करना चाहते हैं उसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त उनका आचरण ही हो सकता है, आदेश-उपदेश और शासन नही। अनु-शासन की सुविधा के लिए किसी सीमा तक शासन की भी आव-श्यकता है, किन्तु शोषण की तरह शासन को भी वरावर नही

वनाये रखा जा सकता। जिस सीमा तक देश में अनुशासनहीनता वनी रहेगी उस सीमा तक शासको और कार्य्यकर्त्ताओ की आचरण-हीनता का ही परिचय मिलेगा।

अनुशासनहीनता के लिए छात्र-समुदाय वदनाम है। यह तो उस शिक्षा-प्रणाली का ही दोष है जो उन्हें केवल परीक्षा पास करने का खिलाड़ी वनाये हुए है। परीक्षा पास करने के लिए उनके सामने ऐसा रचनात्मक कार्य्य भी रखना चाहिये जिससे उनमें सस्कारिता उत्पन्न हो। यह रचनात्मक कार्य्य इतना अनिवार्य्य हो कि इसके विना कोई परीक्षोत्तीर्ण न किया जाय, चाहे अन्य विषयो में उसे कितने ही अङ्क क्यो न मिले हो। केवल छात्रो के लिए ही नही, कार्य्यकर्त्ताओ और राजकर्म्मचारियो के लिए भी सस्कारिता सैनिक-शिक्षा से भी अधिक अनिवार्य्य एव अपरिहार्य्य होनी चाहिये। सरकारी लोकसेवा आयोग (पब्लिक सर्विस कमीशन) की इन्टरव्यू इसके विना निस्सार है। सस्कारिता से ही मनुष्य अपने कर्त्तव्य में उत्तरदायित्वपूर्ण हो सकता है, किसी और तरह नही।

काशी,
१२।५।५७

दिग्दर्शन

२७ अक्तूबर को प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अखिल भारतीय युवक काग्रेस के दूसरे अधिवेशन (लखनऊ) का उद्घाटन करते हुए नवयुवको से कहा—"लो, यह सबसे बडा तोहफा मैं तुम्हें देता हूँ—हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक का हिन्दुस्तान, इसे सँभालो। देश की ताकत छोटे-मोटे सङ्कीर्ण कामो मे नष्ट न होने दो।, हम पुरानी पीढी के लोग दो-चार-पाँच बरस जितना खीच ले जायें, खीच ले जायें; आगे का काम आप लोगो को ही करना है। पर यह काम हुल्लड और शोरगुल से नही होगा, आत्मबल और अटूट निष्ठा से होगा।"

नेहरू जी ने जिन नवयुवको को उद्बोधित करने के लिए उक्त उद्गार व्यक्त किये थे उन नवयुवको का वह उद्घाटन-समारोह इन्तजाम की खराबी के कारण मेले-ठेले से भी बदतर हालत में पहुँच गया और प्रधान मन्त्री को विदेशी अतिथियो से माफी माँगनी पडी। भीड का नियन्त्रण यदि स्वय उन्होने अपने हाथो में न लिया होता तो जितना कार्य्यक्रम हो पाया शायद उतना भी न हो पाता। कार्य्यक्रम का यह हाल रहा कि विदेशी प्रतिनिधि अपने देशो के सन्देश भी नही सुना सके!

'मेघदूत' नामक व्योमयान से नेहरू जी जब लखनऊ पहुँचे तब उन्हें हवाई जहाज के अन्दर से ही भेड़ियाधसान भीड़ दिखाई पडी। भीड बढते-बढते जहाज की सीढी तक आ गयी। नेहरू जी के बाहर निकलने के लिए रास्ता नही रह गया था। उन्होने कहा—आप लोगों ने अभी कायदा-कानून नही सीखा। डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी ने कहा—"हाँ, हमने नही सीखा या लोगो ने नही सीखा ?"

इस प्रश्न का उत्तर चाहे जो हो, किन्तु यह प्रश्न देश की सांस्कृतिक स्थिति को सूचित करता है। वातावरण कितना अन्त - करण-शून्य है ! आवश्यकता है अन्तर्निम्र्माण की, तभी वाह्य आयोजन और आन्दोलन सफल एव सशक्त होंगे।

प्रश्न का उत्तर सीधे न देकर नेहरू जी ने विदेशो के नागरिक आदर्श का दृष्टान्त दिया। उन्होने कहा—अभी मैं जापान गया था, वहाँ हजारो लोग बिलकुल कायदे से खडे रहते थे। एक उँगुली उठाने की जरूरत नही पडती थी।

जापान में नेहरू जी ने कई समयोपयोगी भाषण दिये।

नौ अक्तूबर को टोकियो में उन्होने वर्त्तमान राजनैतिक और वैज्ञानिक प्रगति को कल्याणकारी बनाने के लिए आध्यात्मिक अथवा नैतिक उत्थान का सन्देश दिया। उन्होने कहा—"औद्योगिक प्रगति भी महत्त्वपूर्ण है, लेकिन जनता के आध्यात्मिक स्तर का विकास उससे भी महत्त्वपूर्ण है। यदि राजनीतिक दृष्टिकोण नही बदला जाता तो विज्ञान और प्रौद्योग की अद्भुत प्रगति मानवता को समाप्त कर देगी।"

जापान से लौटते हुए चौदह अक्तूबर को हागकाग में उन्होने कहा—"युद्ध की बातो से समस्याएँ हल न होगी। हमें इस प्रकार की विचारधाराओ से छुटकारा पाना होगा। वैज्ञानिक प्रगति और कृत्रिम चाँद का समस्याओ के हल के नैतिक तरीको पर कोई असर नही पड सकता। वैज्ञानिक प्रगतियाँ अच्छी चीजो को बुरी और बुरी चीजों को अच्छी नही बना सकती। हाँ, वैज्ञानिक प्रगति ने युद्ध की बातो को पुरानी, सडियल और हास्यप्रद अवश्य बना दिया है।"

नैतिक दृष्टि से नेहरू जी सहअस्तित्त्व और पञ्चशील की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं, किन्तु जैसे कृत्रिम नि·शस्त्रीकरण से भला नही हो सकता वैसे ही कृत्रिम सह-अस्तित्त्व से भी भला नही हो सकता। टोकियो में उन्होने कहा था—"केवल सशस्त्र सेनाओ को सीमित करने के समझौतो से शान्ति नही स्थापित की जा सकती। पारमाणविक ध्वसास्त्रो पर रोक लगाना अथवा नि शस्त्रीकरण के प्रश्न पर प्रस्ताव पास कर लेना आसान है, लेकिन कार्य्यान्वित कराना मुश्किल है। इस ओर ध्यान रखते हुए कि दुनिया एक विश्व की ओर बढ रही है, मानव-समाज को पञ्चशील के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए प्रयत्न करना पडेगा।"—भारत लौटने पर उन्होने दिल्ली में २९ अक्तूबर को अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास के प्रतीक के नीचे खडे होकर सहअस्तित्त्व के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण इन शब्दो में स्पष्ट किया—"युद्ध होने पर उसकी बुराइयो को दूर करने क

पुराना मार्ग आज के लिए उचित नही कहा जा सकता। अब एक मात्र उपाय यही रह गया है कि सहिष्णुता की नीति अपनायी जाय तथा हिंसा और घृणा से दूर रहा जाय। . शीतयुद्ध (आतङ्क-युद्ध) का कोई सुपरिणाम नही हुआ है। न तो अतीत में ही इसका कोई सुफल हुआ है और न भविष्य में ही इसका कोई सुफल होगा। फिर क्या हो?—सहअस्तित्त्व ही चारा रह गया है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि सह-अस्तित्त्व भी किस प्रकार का हो? सह-अस्तित्त्व का यह मतलब नही कि हम किसी वस्तु को जो दूसरो को नापसन्द हो, वलात् उस पर लादने की चेष्टा करें। वस्तुत. मानवता के क्षत-विक्षत पीडित मस्तिष्क को सन्तुलित ढग के सहअस्तित्त्व की आवश्यकता है।"

नेहरू जी विश्व को जो आध्यात्मिक और नैतिक निर्देश दे रहे हैं, वह किस देश का सन्देश है? क्या भारत का? जिस देश में अभी नागरिकता का आरम्भिक सस्कार भी उत्पन्न नही हो सका है वह अन्य देशो को क्या सास्कृतिक परामर्श दे सकता है? तो क्या यह निर्देश-सन्देश-परामर्श अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का उन्मेष है? आज अन्तर्राष्ट्रीय चेतना भी कहाँ है? यदि वही होती तो इतने उद्‌गारो की आवश्यकता नही रह जाती, वह तो कार्य्यरूप में जीवन्त दिखायी पडती। सच तो यह कि हमारा देश जैसे नागरिक सस्कारिता में पिछडा हुआ है वैसे ही सारा ससार अन्त-र्राष्ट्रीय संस्कृति में पिछडा हुआ है। तथाकथित विकसित-अविकसित सभी देश एक ही मूर्च्छित मानसिक स्तर के जड प्रस्तर है।

तो फिर नेहरू जी विश्व को किस युग, किस पृथ्वी का आध्यात्मिक एवं नैतिक सन्देश दे रहे हैं ? वे हृदय से कवि हैं। वैज्ञानिक युग में उत्पन्न होकर भी अतीत के सास्कृतिक स्वप्नदर्शी हैं। टोकियो में उन्होने कहा था—"यदि हजारो वर्षो की नसीहतों और सभ्यता की माँगो को लोग नही सुनते-समझते है तो मानवता को त्राण नही मिल सकता।"

नेहरू जी ठीक चेतावनी दे रहे हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि पुरातन और नूतन का एकीकरण कैसे हो ? हजारो वर्षो का नैतिक उत्थान जिस वातावरण में हुआ था वह वातावरण इस वैज्ञानिक युग में कहाँ सुलभ है ? अतीत में मनुष्य और उसके सहचर अन्यान्य प्राणियो का प्रकृति के मुक्त प्राङ्गण में उसी की तरह सजीव भौतिक और आध्यात्मिक विकास हुआ था, इस युग में कृत्रिम यन्त्रोद्योगों और वैसी ही कृत्रिम राजनीति तथा निर्जीव अर्थशास्त्र के वातावरण में वह विकास अवरुद्ध हो गया है। पुनर्विकास के लिए पुन प्रकृति की तपोभूमि गाँवों की ओर लौटने की आवश्यकता है। जैसा वातावरण होगा वैसा ही उद्योग होगा। यदि उद्योग को हम सास्कृतिक बना लें तो अनुशासन स्वत आ जायगा।

नगरो के कृत्रिम जीवन से मनुष्य का जब दम घुटने लगता है तब स्वास्थ्य और स्फूर्ति के लिए वह उद्यानो तथा प्रकृति के अन्यान्य सुरम्य स्थानो की ओर प्रस्थान करता है। क्या इसी तरह अब वैज्ञानिक और औद्योगिक युग के समर्थक गाँवो की ओर

अग्रसर होना चाहते हैं? उनका दृष्टिकोण नवजीवन के लिए प्रकृति से सान्निध्य का नही, वाणिज्य का जान पडता है। प्रकृति के सुरम्य स्थानो से स्वास्थ्यलाभ कर मनुष्य जैसे फिर नगरों के ही कृत्रिम वातावरण मे सांस लेने लगता है वैसे ही यदि गाँवो से जीवन लेकर वह यदि फिर नगरो का ही दूपित सस्कार वनाये रहेगा तो इससे क्या लोक-कल्याण होगा? इससे तो गाँव भी नगरो की औद्योगिक व्याधियो से सक्रमित हो जायँगे।

लखनऊ में अखिल भारतीय युवक काग्रेस-सम्मेलन के अवसर पर नेहरू जी ने कहा था—"पिछले दस वर्षों में भारत ने काफी प्रगति की है और इस समय भी देश मे वडे-वडे निम्मर्णि-कार्य्य चल रहे है, किन्तु भारत गाँवो मे वसा है, अत युवको को गाँवो में जाकर काम करना चाहिये। वहाँ उन्हें भापण करने नही, वल्कि ग्रामीण जनता की सेवा करने जाना होगा। भारत की प्रगति यहाँ के ग्रामीणो की प्रगति पर ही निर्भर है।"

गाँवो के साथ ही गान्धी जी का स्मरण आ जाता है। गाँवो को केन्द्र-विन्दु वना कर उन्होंने सम्पूर्ण मानव-समाज का स्वस्थ निम्मर्णि करना चाहा था। अपने उक्त भापण में नेहरू जी ने कहा था—"लोगो ने गान्धी जी की शिक्षाओ के अनुसार कार्य्य किया होता तो आज देश काफी आगे वढ चुका होता।"

फिर वही प्रश्न सामने आता है—"हाँ, हमने नही सीखा या लोगो ने नही सीखा?"

सभी तो गान्धी जी के दावेदार होने का दम भरते है, किन्तु उनकी शिक्षाओ के अनुसार कौन कार्य्य कर रहा है?

आज स्थिति यह है कि ससार के सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय राज-
त और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र (व्यापार) से बँधे हुए है। यह
ी बात है कि उनके गुट अलग-अलग हैं। ऐसी स्थिति में
भी देश अपने आप में स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नही है।
यही स्थिति बनी रही तो तामसिक राजनीति ज्यो की त्यो
ती रहेगी, सर्वोदय या लोकोदय नहीं होगा।

हम भारतवासी भी चाहें या न चाहें (तटस्थ ही क्यो न रहें),
र्राष्ट्रीय बन्धन से मुक्त नही है। गान्धी जी जीवित रहते तो
भारत को क्या स्वतन्त्र और स्वावलम्बी रूप देते, यह कहा नही
सकता, फिर भी हम उनके रचनात्मक कार्य्यों में से अपना
बना सकते हैं। इस समय किसी ऐसी मौलिक सार्वजनिक
भा की आवश्यकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के आँधी-
ी में घर-गृहस्थी की तरह गान्धी जी के कार्य्यक्रमो को सुरक्षित
उज्जीवित कर दे।

गान्धी जी अपने रचनात्मक कार्य्यों में ग्रामीण अर्थशास्त्र को
र चले थे। उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी भी उसी को
र चलना चाहते हैं। किन्तु वह ग्रामीण अर्थशास्त्र क्या है?
का रचनात्मक स्वरूप क्या है? यदि वैज्ञानिक साधनो और
ोद्योगो का प्रवेश गाँवो में भी हो गया तो उनकी स्वाभाविकता
रह जायगी। गाँव जब नगरो के लघु सस्करण बन जायँगे
वहाँ की प्रकृति भी विकृत हो जायगी।

तो फिर क्या किया जाय? गान्धी जी टकसालो के अर्थशास्त्र

और मशीनो के उद्योग से गाँवो को ही नही, सारे देश को छुटकारा देकर स्वावलम्बी बनाना चाहते थे। अर्थ और उद्योग को वे सजीव श्रम और सामाजिक सहकारिता का प्राणवन्त रूप देना चाहते थे। भारत ही नही, सभी देशो का इसी कार्य्यक्रम से कायाकल्प हो सकता है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या उनके कार्य्यक्रम से अनुर्व्वर देश भी स्वावलम्बी हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह कि जैसे अपने देश में सहकारिता वैसे अन्य देशो के साथ औद्योगिक सहयोग भी सह-अस्तित्त्व का जीवन-सूत्र है। वृटिश काल में गान्धी जी ने विलायती वस्तुओ का वहिष्कार किया था। क्या राजनीतिक अथवा आर्थिक स्वार्थ के लिए ? विदेशो के यन्त्रोत्पादन का गान्धी जी के ग्रामीण स्वावलम्बन से मेल नही बैठता था, इसीलिए वहिष्कार करते थे। यदि विदेशो की जनता अपने ग्रामीण उत्पादन से भारत के गाँवो के साथ सहयोग करती, यथावश्यक वस्तुओ का आदान-प्रदान करती तो वे उसे उस समय भी स्वीकार करते और आज भी स्वीकार करते। उनका विरोध जीवन की कृत्रिम अर्थप्रणाली से था, किसी देश या उसकी जनता से नही।

ससार की वढती हुई आवादी और अकाल को देख कर लोग सोचते हैं कि पुराने ढग से जीवन-निर्वाह कैसे होगा ? तो क्या विज्ञान और यन्त्रोद्योगो से निर्वाह हो जायगा ? कव तक ? प्रकृति की उत्पादन-शक्ति की भी अपनी कुछ सीमाएँ है। उस सीमा का अतिक्रम हो जाने पर स्थिति विज्ञान और यन्त्रोद्योगो के

भी काबू के बाहर हो जायगी। भारत की तरह अन्य देशो में भी समस्या अन्न पर आ टिकेगी, तब सभी देशो को अपने अर्थ और उद्योग में आमूल परिवर्त्तन करना पड़ेगा। वैज्ञानिक स्तर से प्राकृतिक स्तर पर आ जाना पड़ेगा। इस बीच वैज्ञानिक विभीपिकाओ से उत्पन्न आधि-व्याधि में जनसख्या की छँटनी स्वय प्रकृति ही कर लेगी। यदि बढी हुई जन-सख्या में ही प्रकृति से लाभान्वित होना है तो उत्पादक और उपभोक्ता का भेदभाव मिटा कर प्रत्येक व्यक्ति को श्रमदान करना होगा, मनुष्य को समर्थ और स्वावलम्बी बनाने के लिए यन्त्रो की अमानुपिक शक्ति से छुटकारा लेना होगा।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के युग में यह सम्भव है? क्या राजनीतिक शक्तियाँ वैज्ञानिक दृष्टि से पिछड़े देशो को ग्रस नही लेंगी? इसका उत्तर यह कि सङ्कट-काल में वैदेशिक नीति रक्षात्मक दृष्टि से विज्ञान और राजनीति का सहारा ले, गृहनीति रचनात्मक दृष्टि से अपने देश के ग्रामीण साधनो का सदुपयोग करे।

कालान्तर में सभी देशो को एक ही मानुपिक, सामाजिक अथवा प्राकृतिक स्तर पर आना पड़ेगा। इसके पहिले यदि कोई देश अपने निर्म्माण में प्रकृतिस्थ हो सका तो वही दूसरे देशों के लिए आदर्श होगा, उसी का अनुसरण अन्य देश करेंगे।

काशी,

५।११।५७